

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

ईशादिपञ्चोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डकोपनिषदां संग्रहः)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

(पारायण संस्करण)





'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज, वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव



ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रम की सन् १८८० ई. में संस्थापना से पूर्व संस्थापक महाराज श्री स्वनामधन्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्रीविभूषित स्वामी धनराजगिरि जी महाराज मुनि की रेती बगीची में रहते थे। आप चन्द्रभागा में अवस्थित भगवान् चन्द्रेश्वर महादेव की अर्चना ब्रह्ममुहूर्त में ४ बजे प्रात: तक सम्पन्न कर लेते थे। तत्पश्चात् भ्रमणादि के अनन्तर तीनों प्रस्थानों का स्वाध्याय करवाते थे। महाराज श्री के शिवपूजन आदि कृत्य आश्रम संस्थापन के बाद भी वैसे ही चलते रहे। आपकी निष्ठा, पाण्डित्य एवं भक्ति से आशुतोष भगवान् चन्द्रेश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आप से वेदान्त श्रवण करने की लीला करने के लिए उसी प्रकार लालायित हुए जैसे मराल वेष में काकभुशुण्डि जी से रामचरितमानस सुनने के लिए हुए थे। एक रात्रि भवान् शंकर ने स्वामी जी महाराज को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं कनखल में सेठ भारामल की बगीची में गंगा तट पर पड़ा हुआ हूँ। गंगा जी की धारा मेरा बाण बहाने ही वाली हैं। अत: आप शीघ्र ही मुझे वहाँ से अपने पास ले आओ। महाराज श्री ने भगवदादेश का पालन करते हुए तुरंत कनखल जाकर उस दिव्य लिंग को प्राप्त किया और उसमें अपने उपास्य चन्द्रेश्वर महादेव की भावना करते हुए उन्हें अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव की सुन्दर संज्ञा देकर कैलास आश्रम में माघ शु. ७ (अचला सप्तमी) वि.सं. १९५३ को संस्थापित किया। यह सब करने के बाद महाराज श्री को भगवान् की यथोचित पूजा भोगादि की चिन्ता हुई, किन्तु भगवान् ने उन्हें पुन: स्वप्न में दर्शन देकर आश्वासन दिया कि आप केवल मुझे वेदान्त सुनाते रहें, शेष सब व्यवस्था मेरी प्रेरणा एवं कृपा से स्वत: चलती रहेगी। तभी से कैलास आश्रम के सभी आचार्य भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी को ही मुख्य श्रोता मानकर वेदान्त का गंगाधारावत् अक्षुण्ण पाठ चलाते आ रहे हैं। फलत: आश्रम की व्यवस्था में भगवत्कृपा से किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

अपनी इच्छा से पधारे महादेव आज भी कैलास आश्रम में उसी स्थान पर विराजमान हैं और भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। उनका दर्शन अमोघ है ऐसा संत महापुरुष मानते हैं। सामान्यत: देव प्रतिमाओं में सजीव देव भावना करने के लिए भक्तों को विशेष साधना रूपी बल लगाना पड़ता है। परन्तु भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर के विग्रह में उक्त लीला का स्मरण करते ही सहज में ही देवत्व सजीव हो जाता है। इस दिव्य विग्रह की महिमा से ही भारत की विश्वविख्यात विभूतियाँ स्वामी विवेकानन्द जी, स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ जी कैलास आश्रम में आये और वेदान्त श्रवण किये। कितने ही महापुरुषों द्वारा पूजित हुए इस दिव्य लिंग की महिमा दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही है। विशेषतया वर्तमान दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज का दृढ़ विश्वास है कि कैलास आश्रम के ब्रह्मलीन सभी पूर्वाचार्य भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर में समाहित हैं। अत: इनकी दिव्यता एवं गरिमा मानस में वर्णित शिव धनुष की भांति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है।

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ।।

भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी की शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में वर्तमान महामण्डलेश्वर जी महाराज ने दिव्यवर्षपंचकम् का आविष्कार किया। इसी पावन शताब्दी प्रसंग पर अतिरुद्र यज्ञ द्वारा भगवान् की अनुपम समाराधना हुई। सन् १९९७ में महाशिवरात्रि पर इन शताब्दी महोत्सवों की पूर्णाहुति करके महामण्डलेश्वर जी महाराज, सन्तों एवं भक्तों ने परम संतोष का अनुभव किया।



।।श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य सप्तषष्ठितमः (६७) सोपानः

ईशादिपञ्चोपनिषदः

(ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डकोपनिषदां संग्रहः)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

(पारायण संस्करण)







'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



सम्पादक

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूजीलैण्ड)

प्रकाशक

श्री कैलास विद्या प्रकाशन

कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)

दूरभाष :

०१३५–४३०५९८

प्रसंग : देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव

सौजन्य : बत्रा परिवार नई दिल्ली

प्रथम आवृत्ति २000 वि० सम्वत् २०५६ सन् १९९९

मूल्य : २०० रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —

१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
७ श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
८. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
९. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक :– **नाथ प्रिंटर्ज,** जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ३६११९७०

लेज़र कम्पोज़िंग : - **आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स**, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : ५५२३००६

॥ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यो विजयतेतराम्॥

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसव :

जगद्गुरु भगवान् आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव आठवीं शताब्दी (सन् ७८८ ई.) में हुआ था। उस समय भारत में वैदिक सनातन धर्म पर कई प्रकार से कुठाराघात हो रहा था। वैदिक सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ लगाकर तथाकथित विद्वान् जनता को भ्रमित कर रहे थे। **'यदा यदा हि धर्मस्य'** वाली प्रतिज्ञा के अनुसार तब भगवान् का इस धरा पर अवतरित होना अनिवार्य हो गया था। दैवी शक्तियों ने इसके लिये भगवान् आशुतोष शङ्कर का आह्वान किया और वे ही शङ्कराचार्य के रूप में भारत भूमि पर अवतरित हुए। जैसे सूर्य के उदय होने पर धुंध मिट जाती है ऐसे ही शङ्कराचार्य के वचनों, उपदेशों, विचारों एवं सिद्धान्तों की लौ में धर्म, शास्त्र एवं परमार्थ से विमुख हुये लोगों के मोह, संशय भ्रमादि समाप्त हो गये। इस युग में शंकराचार्य के समान तेजस्वी आचार्य, विचारक और शास्त्र-रचयिता न कोई अन्य हुआ है और न आगे होगा। अपने २०० से भी अधिक शास्त्र रचनाओं की धरोहर वह मानव समाज के लिये छोड़ गये हैं जिसके आलोक में सहज में ही मानव अपने कल्याण का सम्पादन कर सकता है।

संस्कृत एवं धर्म प्रचार के लिये आद्यशंकराचार्य ने भारत के चारों दिशाओं में जो चार मठ बनाये, वे काफी समय तक उनके उद्देश्यों की पूर्ति करते रहे; पर बाद में उनमें शिथिलता आ गई। विशेष कर उत्तराम्नाय में तो कई वर्षों से आचार्य पद को सुशोभित करने वाला महापुरुष ही सामने नहीं आया। अतः वह पीठ बिना गुरु के इसी प्रकार डगमगा गई जैसे कर्णधार के बिना नौका। भगवत्कृपा से इसकी पूर्ति के लिये स्वनामधन्य महामण्डलेश्वर स्वामी धनराजगिरि जी महाराज ने सन् १८८० में ऋषिकेश गंगातटीय पावन भूमि पर **कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ** की संस्थापना की। यहाँ वेदान्त के ग्रन्थों का पठन पाठन भगवान् शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्यों सहित अक्षुण्ण रूप से होने लगा। विशेष कर वर्तमान दशम कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज (महाराज श्री) के सन् १९६९ में इस पीठ पर विराजने के पश्चात् वहाँ की स्वाध्याय शैली में निखार आया। इसकी खास वजह यह है कि महाराज श्री ब्रह्मविद्या के अनन्य उपासक हैं और भगवान् शंकराचार्य की रचनाओं से उन्हें अत्यधिक स्नेह है। शाङ्करभाष्यों को जनमानस में उतारने के लिये उन्होंने उपनिषदों भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र भाष्यों की हिन्दी व्याख्या लिखी और प्रकाशित भी करवाई। उपनिषदों पर इस व्याख्या की 'विद्यानन्दी भाष्यार्थदीपिका' और गीता और ब्रह्मसूत्र पर इस व्याख्या की ललिता व्याख्या के नाम से प्रसिद्धि है। भगवान् शंकराचार्य ने जैसी ओजस्वी शैली से धर्म प्रचारादि कार्य किया था वैसी शैली से ही महाराज श्री, श्रीशङ्कराचार्य और उनके ग्रन्थों का प्रचार कर रहे हैं। इस विषय में आप एक अद्वितीय दिव्य विभूति हैं।

आजकल महाराज श्री शंकराचार्य भाष्यों के पारायण पर बहुत बल दे रहे हैं। शाङ्करभाष्यों के विधिवत् दैनिक पारायण के प्रथम प्रवर्तकाचार्य होने का श्रेय आप को मिला है। आप स्वयं

एक घण्टा प्रतिदिन उपनिषद्, भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यों का क्रमबद्ध पारायण करते हैं। यह नियम आपने देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव के प्रारम्भ में लिया जो महोत्सव आपके पीठासीन होने के तीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में १-७-१९९८ से मनाया जा रहा है। यद्यपि यह महोत्सव ७-१०-१९९९ को सम्पन्न हो जायेगा परन्तु महाराज श्री का शाङ्करभाष्य पारायण का नियम आजीवन चलेगा ऐसा उन्होंने संकेत दिया है। महाराज श्री शांकरभाष्यों को दिव्य रचनाएँ मानते हैं। उनके पारायण से आपको उतना ही आनन्द और संतोष मिलता है जितना श्रुतिमन्त्रों एवं गीता श्लोकों के पारायण से।

कई लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि महाराज श्री को और जिन अन्य विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान है उनको तो शाङ्करभाष्य पारायण में रस मिलता है, पर साधारण व्यक्ति जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है उसे इससे क्या लाभ? इसके उत्तर में यह निवेदन करना है कि आज भी संस्कृत न जानने वाले लाखों ऐसे भक्त हैं जो श्रीमद्भगवद्गीता, वेदमन्त्रों और दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों का पारायण करते हैं और उससे प्रचुर लाभ उठाते हैं। दूसरे हम यह मानते हैं कि सुसंस्कृत शब्द में उसका अर्थ निहित होता है। उस शब्द की उपासना से अर्थ की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है। यदि कोई श्रद्धा भक्ति सहित शाङ्करभाष्यों का दैनिक पारायण करता है तो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होते हुये भी कुछ ही साधना के पश्चात् उसको अर्थ का प्रकाश होने लगता है। नाम साधना भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है। नाम और नामी में अभेद वाली बात प्रसिद्ध ही है। अतएव महाराज श्री के उपदेशानुसार हमें शाङ्करभाष्यों के पारायण का नियम अवश्य लेना चाहिए।

महाराज श्री ने सुविचारपूर्वक यह निर्णय लिया कि जब हम शाङ्करभाष्यों के पारायण का प्रचार कर रहे हैं तो उसके अनुरूप हमें ग्रन्थ भी उपलब्ध करवाने चाहिये। तदनुसार पारायणोपयोगी ग्रन्थ छपवाने का महाराज श्री ने निर्णय लिया और इसमें सर्वप्रथम 'माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः' (पारायण संस्करण) का लोकापर्ण १९-७-९९ को हुआ। इसके पश्चात् प्रस्तुत 'ईशादिपञ्चोपनिषदः' (पारायण संस्करण) भी भगवत्कृपा से लोकापर्ण होने के लिये तैयार हो गया है। इसके बाद यथा समय छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों का भी पारायण संस्करण तैयार हो जायेगा। फिर भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र भी इसी तरह छपवाने की संभावना है।

पारायण संस्करण में मूल मन्त्रों की महाराज जी द्वारा की गई संक्षेप हिन्दी व्याख्या (विद्यानन्दीमिताक्षरा) दे दी गई है ताकि संस्कृत से अनभिज्ञ पारायणानुरक्त साधक उसका भाव समझने में सक्षम हो। शाङ्करभाष्य को तो ज्यूं का त्यूं मूलमन्त्र और हिन्दीमिताक्षरा के नीचे दे दिया है। टाईप का साईज भी आम पुस्तकों से बड़ा रखा गया है ताकि सभी को पारायण में सुविधा हो।

हमारी समझ से देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव की सबसे बड़ी देन शाङ्करभाष्य पारायण का श्रीगणेश है। यह एक ऐसा साधन है जिस के बल पर आज के समाज में अतिशीघ्र पारमार्थिक लाभ जीव को मिल सकता है। इस के साथ भगवान् जगद्गुरु आदि शंकराचार्य और अस्मादाचार्य पर्यन्त गुरुओं के असंख्य उपकारों के ऋण का हम कुछ व्याज चुकाने का प्रयास भी कर सकेंगे। हरि ॐ तत्सत्

श्रीगणेश चतुर्थी (भाद्रपद शु. ४) वि० सं० २०५६

गुरुपादानुरागी
स्वंग लाल तुली
'विद्यासदन' दिल्ली

१ — ईशावास्योपनिषद्

प्रकरण प्रकाशिका

Ref. मुण्डक. Page 10. वैराग्य शुभयोरिच्छा प्रथमा प्रोच्यते बुधैः = शुभेच्छाः (1)
शास्त्र सज्जन संपर्क वैराग्याभ्यास पूर्वकं । सद्विचार प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ (2)
विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता । यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते सा तनुमानसा (3)
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् । सत्त्वात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता (4)
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला च या । रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥ (5)
very much भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम् । आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानाम् अभावनात् ॥ परप्रयुक्तेन चिरप्रयत्नेनावबोधनम् । पदार्थभाविनी नाम षष्ठी भवति भूमिका (6)
भूमिषट्क चिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् । यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा स्थितिः (7)

अत्र भूमिकात्रितयं ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव न तु विद्याकोटावन्तर्भवति । भूमिकात्रये भेदसत्यत्व बुद्धेरनिवर्तितत्वात् । अत एवैतज्जागरणमिति व्यपदिश्यते ॥ ब्रह्मात्मैकसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूप सत्त्वापत्तिः (स्वप्नः) पञ्चमादयस्तिस्रो भूमयो जीवन्मुक्तेरवान्तर-भेदाः । षष्ठ भूमौ पार्श्वस्थैर्बोधितो व्युत्तिष्ठते । पञ्चमे योगी ब्रह्मविद्वरः । षष्ठो ब्रह्मविद्वरीयान्

२—केनोपनिषत्

पदभाष्य-वाक्यभाष्य क्रम

III विसंवादाभावस्तृतीयं प्रयोजनम् ॥
विसंवादो द्विविधः, कलहरूपो, निन्दारूपश्च.
IV & V. दुःखनाश सुखाविर्भावरूपे चतुर्थपञ्चमप्रयोजने निरूपिते ।
उभयं अत्र सङ्क्षिप्योच्यते
"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः बृ. ४-४-१२
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु सञ्ज्वरेत् ॥
तत्त्वज्ञानं पूर्वमेवोत्पन्नमपि — जीवन्मुक्तौ सुरक्षितं भवति.
शरीरमनुसंज्वरेत् = शोचेत् = शरीरोपाधिदुःखमनु दुःखी स्यात्
शरीरतापमनुतप्येत।

३—काठकोपनिषत्

वल्ली सूची

II
चतुर्थी - स्वप्नः - ब्रह्मविद्
पञ्चमी - सुषुप्ति - ब्रह्मविद्वरः
षष्ठी - गाढसुषुप्ति - ब्रह्मविद्वरीयान् - पार्श्वस्थैर्बोधितो व्युत्तिष्ठते.
ब्रह्मविद्वरिष्ठः - स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति.
सप्तमी
5, 6, 7, भूमित्रयरूपायां जीवन्मुक्तौ संपद्यमानायां द्वैतप्रतिभासाभावेन संशयविपर्यय प्रसङ्गाभावादुत्पन्नं तत्त्वज्ञानम् बाधेन रक्षितं भवति.
I ज्ञान रक्षा जीवन्मुक्तेः प्रथमं प्रयोजनम्.
II तपो द्वितीयं प्रयोजनम् (पञ्चमादिभूमिकात्रयस्य तपस्त्वं कैमुतिक न्याय सिद्धं) तपसा प्राप्यं जन्मान्तरं नास्ति तथाऽपि लोकसंग्रहाय ① ② ③ येदं तपो युज्यते. गीता: लोकसंग्रहमेवापि.
लोकसंग्रहश्च त्रिविधः 2 शिष्यो भक्तास्तटस्थश्चेति.
① उपदिष्टे तत्त्वे परमं विश्वासं प्राप्य चित्तं शिष्यस्य सहसा विश्राम्यति "यस्य देवे.
② भक्तः - अन्नप्रदाननिवासस्थान कल्पनादिना योगिनं सेवमानो भक्तस्तदीयं तपः स्वयमेवाऽऽदत्ते॥
"तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति ... साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्॥

* परोक्षज्ञानसे = कूटस्थ नहीं है इस आवरण, कूटस्थ है इस परोक्षज्ञानसे नष्ट होत
अपरोक्षज्ञानसे = कूटस्थ भासता नहीं यह आवरण, मैं कूटस्थ हूँ इस अपरोक्षज्ञान से नष्ट

४—प्रश्नोपनिषत्

प्रश्न क्रम

चिदाभास का सात अवस्थाये: पञ्चदशी VII तृप्तिदीपप्रकरण

1) अज्ञान:- न जानामी त्युदासीन व्यवहारस्य कारणम्
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥35॥

2) आवरण:- अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ। केवल त कूटस्थ
व्यवहार विपरीतव्यवहृतिरावृते: कार्यं मिष्यते ॥36॥

3) विक्षेप:- देहद्वयचिदाभास रूपो विक्षेप ईरित:। स्थूल, सूक्ष्म शरीर सहित चिदा
चिदाभास का कार्य शोक — कर्तृत्वाद्यखिल: शोक: संसाराख्योऽस्य बन्धक: ॥37॥

4) परोक्षधी:- परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्ववृति हेतुता

5) अपरोक्षज्ञान:- अपरोक्षज्ञान नाश्या हि अभाना वृति हेतुता ॥45॥

6) शोक निवृत्ति:- अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात्।
कर्तृत्वाद्यखिल: शोक: संसाराख्यो निवर्तते ॥46॥

7) निरङ्कुश तृप्ति:- निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात्।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्ति: पुन: शोकासमुद्भवात् ॥47॥

५—मुण्डकोपनिषत्

मुण्डक विभाग

(३) तटस्थोऽपि द्विविधः, आस्तिको नास्तिकश्चेति। तत्राऽऽस्तिको योगिनः सन्मार्गाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि सन्मार्गे प्रवर्तते। तथा च स्मर्यते "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त......" नास्तिकोऽपि योगिना दृष्टः पापान्मुच्यते। पश्चात् भवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्तते।
तदुक्तम् — तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥ इति॥
सर्वप्राण्युपकारित्वं योगिनो विवक्षित्वा पठ्यते —
स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-
र्यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च संपूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन।

आय
।।।
उद्धृता

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या ऐसे ६ प्रमाण हैं। जिनसे कर्मशेष का बोध होता है।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥९॥

अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥१७॥

ॐ खं ब्रह्म ॥१८॥

ॐ पूर्णमित्यादिशान्तिः ॥३॥

इति शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखान्तर्गता ईशावास्योपनिषद् । (शु. य. सं. अ. ४०) ।

ॐ

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादो विजयतेतराम्

ईशावास्योपनिषद्

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

ॐ वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ। (तथा तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलय काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपेन में लीन करके) पूर्ण (निरुपाधिक परब्रह्म) ही शेष बचा रहता है। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः। नह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपिणेनैवोपक्षयात्। गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्। तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति। तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः॥

हरिः ॐ। ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

जगत् में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़ चेतन संसार है, वह सब ईश (पद लक्ष्य निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादनीय है (इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का त्याग हो जाता है) उसी त्यागभाव से तू आत्मा का पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर। (जब ब्रह्मदृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् का बाध हो गया, तो भला!) किसका धन है (जिसकी आकांक्षा करें?)॥१॥

इस (कर्माधिकारी मानव) लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने

ईशा वास्यमित्यादि। ईशा ईष्टे इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्। किम्। इदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना। यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्। एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासे एवाधिकारो, न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः। भुञ्जीथाः पालयेथाः। एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम्। कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः। अथवा मा गृधः। कस्मात्? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः॥१॥

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः— कुर्वन्नेवेति।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः॥३॥

की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्वाभिमान रखने वाले तुझ में शास्त्र-निषिद्ध कर्म लिप्त नहीं हो सकता। इससे भिन्न पाप कर्मों से अलिप्त रहने को कोई दूसरा उपाय नहीं है॥२॥

(अद्वितीय परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं, फिर असुरों की तो बात ही क्या?) वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। आत्मज्ञान शून्य जो कोई भी आत्मघाती हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं॥३॥

कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि। जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्। तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते। एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते, कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्। कथं पुनरिदमवगम्यते? पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति। उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन्' 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनमि'ति च। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्; ततो न पुनरियादि'ति संन्यासशासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति। इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः। तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति। "न्यास एवात्यरेचयत्" (तै० ना० ७८) इति च तैत्तिरीयके। "द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः" (म० भा० शान्ति० २४१-६) इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता। विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः॥२॥

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः। ते लोकाः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

(वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से) विचलित न होने वाला, सभी भूतों में एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इस आत्मतत्त्व को चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकीं? क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ प्रतीत होता है। वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले (गतिशीलों) को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी विद्यमानता में ही अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाला वायु (समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप) कर्मों का विभाग करता है॥४॥

कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्वक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' (कठ० ३/२/७)। ये के चाऽऽत्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः? येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्याऽऽत्मनस्तिरस्करणात्। विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते॥३॥

यस्याऽऽत्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते तेऽनाऽऽत्महनः तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते - अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु। मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो जववत्तरम्। कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च। नैष दोषः। निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेजदेकमिति। मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनादिह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं संकल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह। नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयो मनोव्यापारव्यवहितत्वात् आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभवति। यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्पूर्वमेव गतम्। व्योमवद्व्यापित्वात्। सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है (और निरुपाधिक रूप से) वह नहीं भी चलता है। वह (अत्यन्त) दूर में है और वही निकट में भी है, किंबहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है तथा इसके बाहर भी वही है॥५॥

सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते इत्येतदाह-तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृती-नत्येत्यतीत्य गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—तिष्ठदिति। स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः। तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा=मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि। अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजतीत्यर्थः। धारयतीति वा। 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' (तै० २/८) इत्यादि-श्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥४॥

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह - तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं, तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किंच तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूरे इव। तत् उ अन्तिके इति च्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। "य आत्मा सर्वान्तर" (बृ० २/४/१) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशय सूक्ष्मत्वादन्तः। "प्रज्ञानघन एव" (बृ० ४/५/१५) इति च शासनान्निरन्तरं च॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

जो (परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता॥ ६॥

जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिए सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखने वाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं)॥ ७॥

यस्तु। यः परिव्राड्मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं, तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्याऽऽत्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽत्मेति सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति। प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवत्यात्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत इति॥ ६॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह — यस्मिन्सर्वाणि भूतानि। यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतस्तत्र तस्मिन्काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। 'को मोहः कः शोक' इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासम्भवप्रदर्शनात्सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपाप-
विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

वह पूर्वोक्त आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक शुद्ध, सूक्ष्म शरीर से रहित, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, धर्माधर्मादिपापवर्जित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू (स्वयं होने वाला) है। उस नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वर ने नित्य सिद्ध सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से (यथाभूत कर्मफल और साधनों के अनुसार) अर्थों (कर्त्तव्यों या पदार्थों) का विभाग किया है॥८॥

जो अविद्या (केवल अग्निहोत्रादि कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः — स पर्यगात्स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्गतवानाकाशवद्व्यापीत्यर्थः। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणमक्षतम्। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूल-शरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं धर्मा-धर्मादिपापवर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणेयानि स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात्। कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३/७/२३) इत्यादिश्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः। स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथा भावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान्कर्तव्यपदार्थान्व्यदधाद्विहितवान्यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः॥८॥

अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः। ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति। अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवे कुर्वन्नेवेह

अविद्या = कर्म और उपासना ; तद् विद्या ज्ञाने (ब्रह्मज्ञाने)

देवता ज्ञाने देवता उपासना प्रत्यक्ष भागी

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥९॥

अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (देव उपासना) में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिकतर घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥९॥

कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० १/४/१७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति, 'मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया' (बृ० १/४/१७) इत्यादिवचनात्, अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्मस्वरूपावस्थानं जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४/४/२२) इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्। ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम्। ये तु कर्मिणः कर्म निष्ठाः कर्म कुर्वन्तः एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते-

अन्धंतम इत्यादि। कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषामित्युच्यते - अकामिनः साध्य साधनभेदोपमर्देन "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते। यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं, तत्कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। 'विद्यया देवलोकः' (बृ० १/५/१३) इति पृथक्फलश्रवणात्। तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैवैकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्। विद्यया तदारोहन्ति। विद्यया देवलोकः। 'न तत्र दक्षिणा यन्ति' (शत० १०/५/४/१६) 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १/५/१६) इति। नहि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात्। तत्रान्धं तमोऽदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के? येऽविद्यां विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञाने एव रता अभिरताः तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह। अन्यथा फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

विद्या (देवोपासना) से (देवलोक की प्राप्तिरूप) अन्य ही फल बतलाते हैं तथा अविद्या (अग्नि होत्रादि कर्म) से (पितृलोक की प्राप्तिरूप) अन्य फल कहते हैं। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उन (फल के सहित ज्ञान और कर्म) की व्याख्या की थी॥१०॥

जो कोई विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ ही एक ही पुरुष से अनुष्ठेय जानता है (और वैसे ही अनुष्ठान करता है वह कर्म रूप) अविद्या से (स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप) मृत्यु को पार कर विद्या से (देवात्म भाव रूप आपेक्षिक) अमृतत्व को प्राप्त करता है॥११॥

अन्यदेवेत्यादि। अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति। ''विद्यया देवलोकः'' 'विद्यया तदारोहन्ति' इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते 'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १/५/१६) इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥

यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते- अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति। तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति काम-कर्म की बीजभूत अविद्या) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिकतर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

कार्यब्रह्म की उपासना से अन्य ही (अणिमादि ऐश्वर्यरूप) फल बतलाते हैं तथा अव्यक्त की उपासना से (प्रकृतिलय रूप) अन्य ही फल बतलाते हैं, ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (फल के सहित व्यक्त और अव्यक्त उपासना) की व्याख्या की थी ॥१३॥

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिं सम्भवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिस्तस्या अन्याऽसम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये, ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति ये उ संभूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—अन्यदेवेति। अन्यदेव पृथगेवाऽऽहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुरसम्भवादसम्भूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तम् "अन्धं तमः प्रविशन्ती" ति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं, ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

ऽसम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति) और कार्यब्रह्म, इन दोनों को साथ-साथ (एक पुरुष से अनुष्ठेय) जानता है, वह कार्य ब्रह्म की उपासना से (अनैश्वर्य, अधर्म कामादि दोष रूप) मृत्यु को पारकर असम्भूति के द्वारा (प्रकृतिलय रूप) अमरत्व को प्राप्त करता है ॥१४॥

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि-समष्टि अहङ्काररूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिये तू उस आवरण को हटा ले ॥१५॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्। तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासंभूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते। ''सम्भूतिं च विनाशं च'' इत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम्। एतावती संसारगतिः। अतः परं पूर्वोक्तं 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम्। एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः। तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम्। निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तं, तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते— ''तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः'' (बृ० ५/५/२) एतदुभयं सत्यं

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।

हे जगत् पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे (प्राण और रस का पोषण करने वाले) सूर्य! हे प्रजापति के लाडले! तू अपने किरणों को हटा ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ, यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ॥१६॥

अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक वायु आधिदैविक वायुरूप) सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और ये शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प-विकल्पात्मक मन! अब तू मेरे स्मरणीय का स्मरण

ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितमाच्छादितं मुखं द्वारं,तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात्सत्यं धर्मो यस्य,मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथा भूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये॥१५॥

पूषन्निति। हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे! तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः। हे यम! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात्सूर्यः। हे सूर्य! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे प्राजापत्य! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् समूह, एकी कुरु, उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः। यत्ते तव रूपं कल्याणतममत्यन्तशोभनं तत्ते तवाऽऽत्मनः प्रसादात्पश्यामि। किंचाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः, पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि॥१६॥

वायुरिति। अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृत-

ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्सम्पूर्णा
॥ॐ तत्सत्॥

कर, मेरे किये हुए का स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय उपस्थित हो गया है)॥१७॥

हे अग्नि! हमें अपने कर्मफल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चलो, हे देव! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो (अर्थात् नष्ट कर दो)। हम (मुमूर्षु सम्प्रति) तेरे लिये अनेकों नमस्कार मात्र से परिचर्या करते हैं॥१८॥

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् की
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि कृत मिताक्षराहिन्दीव्याख्या सम्पूर्ण हुई।

मुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्। मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्। ओमिति यथोपासनमोंप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो! सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम्॥१७॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते — अग्ने नयेति। हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय

कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान्विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्। किं च युयोधि वियोजय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुंभूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः। ''अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते''। ''विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते'' इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्। यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपसानं च शास्त्रप्रमाणकं, तथा तद्विरोधाविरोधावपि। यथा च 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी' ति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते; 'अध्वरे पशुं हिंस्यादि'ति। एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो, न; 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' (क० १/२/४) इति श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेतिवचनादविरोध इति चेन्न। हेतुस्वरूपफलविरोधात्। विद्याविद्याविरोधाविरोधयोर्विकल्पासम्भवात्समुच्चय-विधानादविरोध एवेति चेन्न। सहसम्भवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेन्न। विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाऽऽश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा। ''यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'' इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्याऽसम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम। ''अमृतमश्नुते'' इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्म-विद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एवं मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते॥१८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्॥

॥ॐ तत्सत्॥

॥आह्निकम्॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

केनोपनिषत्

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

(सामवेदीयतलवकारोपनिषत्)

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं
माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरो-
दनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि
निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि
सन्तु।।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

भाव :— वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

मेरे अंग पुष्ट होवें, मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट, (ब्रह्म बोध के योग्य) होवें। वह सब (दृश्यमान् जगत्) उपनिषद्वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे (अर्थात् मैं ब्रह्म को सदा आत्मभावेन साक्षात् करूँ, उससे कभी भी विमुख न होऊँ और इसके लिए सर्वान्तर्यामी परमात्मा मुझे बल दे, वह मेरा त्याग न करे)। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं, वे आत्मबोध में लगे हुए मुझ साधक में होवें, वे सब मुझ में होवें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।।

(1) कर्माङ्ग उपासना.
श्रुत्यर्थसंग्राहकवाक्यैः (3) कैवल्य सन्निकृष्ट उपासना.
विस्तरेण उपदिष्टानाम् सूत्र-भाष्ययोः निबन्धो यः समासेन संग्रहम् विदुर्बुधाः

अथ प्रथमः खण्डः

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम्।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

केनेषितमित्याद्योपनिषत्परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायास्याऽऽरम्भः। प्रागेतस्मात्कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि कर्माङ्गसामविषयाणि च। अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यं सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति। सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति। स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ताऽधोगतिः स्यात्। "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।" (छा. ५/१०/८) इति श्रुतेः। "प्रजा ह तिस्रोअत्यायमीयुः" इतिचमन्त्रवर्णाद्विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात्साध्यसाधनसंबन्धादिह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते। तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते केनेषितमित्याद्यया। काठके चोक्तम्— "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इत्यादि। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्याद्याथर्वणे च। एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा। एतस्माच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति मन्त्रवर्णात्। "तरति शोकमात्मवित्" इति,

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. २/२/८)

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत्सिध्यतीति चेन्न। वाजसनेयके तस्यान्यकारणत्ववचनात्। "जाया मे स्यात्" इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके। तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः— "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" इति। तत्रायं हेत्वर्थः—प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामो, न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः
प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।१।।

यह मन किससे प्रेरित हुआ (अपने) अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (मुख्य) प्राण चलता है, (सभी प्राणी) किसके द्वारा प्रेरित हो इस अभीष्ट वाणी को बोलते हैं और कौन देव चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करता है?।।१।।

साधनसाध्यमिष्टं येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः। स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यस्तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यासःएव कर्तव्य इति। कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य। न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते। वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य। तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य, प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयं, केनेषितमित्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते। शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात्सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति। केवलतर्कागम्यत्वं च प्रदर्शितं भवति। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति श्रुतेश्च। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति। "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च। कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणमपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलमिच्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते। केनेषितमित्यादि। केनेषितमिति केन कर्त्रेषितमिष्टमभिप्रेतंसन्मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रतीति संबध्यते। इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासंभवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते। इषितमितीट्प्रयोगस्तु च्छान्दसस्तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्। तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षास्यात्। केन प्रेषयितृविशेषेण। कीदृशं वा प्रेषणमिति। इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते। कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणाद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम्। अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमितीच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः। न, प्रश्नसामर्थ्याद्। देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तोऽतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। इतरथेच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसंघातस्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः। अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मन का मन और वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है, (अर्थात् श्रोत्रादि में श्रवण आदि का सामर्थ्य जिससे है उसे जानकर) धीर पुरुष इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं ।।२।।

प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्। एवमपि प्रेषितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव। न। संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेषितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते। किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकरणसंघातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृत्वमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषण-द्वयमुपपद्यते। ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्। तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति? उच्यते। यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयं स्यात्तर्हि सर्वस्यानिष्टचिन्तनं न स्यादनर्थं च जानन्संकल्पयति। अत्युग्रदुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तते एव मनस्तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादि प्रश्नः। केन प्राणो युक्तो नियुक्तः प्रेरितः सन्प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्तत्पूर्वकत्वा-त्सर्वेन्द्रियवृत्तीनाम्। केनेषितां वाचमिमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवो द्योतनवान्युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ।।१।।

एवं पृष्टवते योग्यायाऽऽह गुरुः शृणु त्वं यत्पृच्छसि। मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति। श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियं तस्य श्रोत्रं स यस्त्वया पृष्टश्चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्तीति। असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्ते इति वक्तव्ये नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति। नैषः दोषः। तस्यान्यथाविशेषा-नवगमात्। यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादि-नियोक्ताऽवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात्। न त्विह श्रोत्रा-दीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते। श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणाऽऽलोचनसंकल्पाध्यवसायलक्षणेन फलावसानलिङ्गेनावगम्यते। अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतो यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापो गृहादिवदिति संहतानां परार्थत्वा-

दवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि। कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण। नैष दोषोऽयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जन-समर्थं दृष्टम्। तच्च स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीत्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते। तथा च श्रुत्यन्तराणि—"आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते" "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इत्यादीनि।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।"

"क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" इत्यादि गीतासु।

काठके च—"नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्याऽऽत्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धं तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्त-रतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तमिति, प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव। तथा मनसोऽन्तःकरणस्य मनः। न ह्यन्तःकरणमन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषयसंकल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात्। तस्मान्मनसोऽपि मन इति। इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति। यद्वाचो ह वाचं यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः संबध्यते। यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्। यस्मान्मनसो मन इत्येवम्। वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते। प्राणस्य प्राण इति दर्शनात्। वाचो ह वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते। न। बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वाद्वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन। एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्। पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्। स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणस्तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम्। न ह्यात्मनाऽनधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यग-स्यति" इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते— "येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इति। श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्। सत्यमेवं प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणप्राणस्य ग्रहणं कृतम्। एवं मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः। तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैन्याधिष्ठितस्यैवातश्चक्षुषश्चक्षुः। प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वाच्छ्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वेत्यध्याह्रियते। अमृता भवन्तीति

आत्मा की दुर्विज्ञेयता तथा दुर्निरूपणता

अपूर्वता ③

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव
तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां
ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।३।।

वहाँ (सर्वप्रेरक सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में) नेत्र इन्द्रियाँ नहीं जाती और मन (भी) नहीं जाता। अतः जैसे शिष्य को इस (निरुपाधिक ब्रह्म) का उपेदश करना चाहिये, उसे हम नहीं जानते (और सामान्य या विशेष रूप से भी) हम उसे नहीं समझते। वह विदित वस्तु से अन्य ही है तथा अविदित (अज्ञान) से भी परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म) का व्याख्यान किया था ।।३।।

फलश्रुतेश्च। ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते। "ज्ञात्वाऽतिमुच्य" इति सामर्थ्याच्छ्रोत्रादिकरण-कलापमुज्झित्वा। श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा तदुपाधिः संस्तदात्मना जायते म्रियते संसरति च। अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्माऽऽत्मेति विदित्वाऽतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीरा धीमन्तः। न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्। प्रेत्य व्यावृत्यास्माल्लोकात्पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्त्यक्तसर्वैषणो भूत्वेत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागनैके अमृतत्वमानशुः" "पराञ्चि खानि व्यतृणत्" "आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवाऽतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वादस्माल्लोकात्प्रेत्यास्माच्छरीरात्प्रेत्य मृत्वेत्यर्थः ।।२।।

यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्मातो न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुर्गच्छति। स्वात्मनि गमनासंभवात्। तथा न वाग्गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा,तदाऽभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते। तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्याऽऽत्मा ब्रह्मातो न वाग्गच्छति। यथाऽग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन्न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति च तद्वत्। नो मनो मनश्चान्यस्य संकल्पयितृ अध्यवसायितृ च सदात्मानं न संकल्पयत्यध्यवस्यति च तस्यापि ब्रह्माऽऽत्मेतीन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं तदगोचरत्वान्न विद्मस्तद्ब्रह्मेदृश-मित्यतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेणैतद्ब्रह्मानुशिष्यादुपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः। यद्धि

ब्रह्म वागादि से परे और अनुपास्य है। (४-८)

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।४।।

जो (चैतन्य मात्र सत्ता स्वरूप ब्रह्म) वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।।४।।

करणगोचरं तदन्यस्मा उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म। तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति। उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति—न विद्म इत्यादि। अत्यन्तमेवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते। सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः। आगमेन तु शक्यत एवं प्रत्याययितुम्। तदुपदेशार्थमागममाह—"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति"। अन्यदेव पृथगेव तद्यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्त मविषयं च तेषाम्, तद्विदितादन्यदेव हि विदितं नाम यद्विदिक्रियया‌ऽतिशयेनाऽऽप्तं तद्विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित्किंचित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं तद्विदितमेव तत्तस्मादन्यदित्यर्थः। अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह-अथो अविदिताद्विदितविपरीतादव्याकृतादविद्यालक्षणाद्व्याकृतबीजात्। अधीत्युपर्यर्थे लक्षणयाऽन्यदित्यर्थः। यद्धि यस्मादध्युपरि भवति तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धं यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम्। तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्मेत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात्। तथाऽविदितादधीत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात्। कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येनोपादीयतेऽतश्च न वेदितुरन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीत्येवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽन्यब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात्। न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः। "अयमात्मा ब्रह्म" "य आत्माऽपहतपाप्मा"। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"। "य आत्मा सर्वान्तरः" इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेत्येवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यस्याऽऽचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह-इति शुश्रुमेत्यादि। ब्रह्म चैवमाचार्योपदेशपरम्परयैवाधिगन्तव्यं, न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्चेत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषामाचार्याणां वचनम्। ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तद्ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तो विस्पष्टं कथितवन्तस्तेषामित्यर्थः।।३।।

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यनेन वाक्येनाऽऽत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता तत्कथं त्वात्मा ब्रह्म। आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।५।।

जिसे (कोई) मन से मनन नहीं करता है किन्तु जिससे मन भी मनन किया जाता है– ऐसा कहते हैं, उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।।५।।

संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रश्च प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा। लोकप्रत्यय-विरोधात्। यथाऽन्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मेत्याचक्षते, तथा कर्मिणः "अमुं यजामुं यज" इत्यन्या एव देवता उपासते। तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्। ततोऽन्य उपासक इति तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा ह मैवं शङ्किष्ठाः। यच्चैतन्यमात्रसत्ताकं वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानामभिव्यञ्जकं करणं वर्णाश्चार्थसंकेतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इत्येवं तदभिव्यङ्ग्यशब्दः पदं वागित्युच्यते "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्त-स्थोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" इति श्रुतेः। मितममितं स्वरः सत्यानृते एव विकारो यस्यास्तया वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्याऽनभ्यु-दितमप्रकाशितमनभ्युक्तं येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते, चैतन्य-ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतत्। यद्वाचो ह वागित्युक्तं वदन्वाक्। यो वाचमन्तरो यमयतीत्यादि च वाजसनेयके। "या वाक्पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वागयया स्वप्ने भाषते" इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक्चैतन्यज्योतिःस्वरूपा। "न हि वक्तुर्वक्तेर्वि-परिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। तदेवाऽऽत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वा-द्ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वं यैर्वागाद्युपाधिभिः वाचो ह वाक्चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्ये-वमादयः संव्यवहारा असंव्यवहार्ये निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते तान्व्युदस्याऽऽ-त्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीत्येवशब्दार्थः। नेदं ब्रह्म यदिदमित्युपाधिभेदविशिष्ट-मनात्मेश्वराद्युपास्ते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्मेत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थमन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ।।४।।

यन्मनसा न मनुते। मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणम्। सर्वविषयव्यापकत्वात्। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽ-

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।६।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।७।।

जिसे (कोई) नेत्र से नहीं देखता है किन्तु जिससे नेत्रों को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।।६।।

जिसे (कोई) श्रोत्र से नहीं सुनता है, पर जिससे श्रोत्र इन्द्रिय सुनी जाती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस इस (देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ।।७।।

श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" (बृ. १/५/३) इति श्रुतेः। कामादिवृत्तिमन्मनस्तेन मनसा यच्चैतन्यज्योतिर्मनसोऽवभासकं न मनुते न संकल्पयति नापि निश्चिनोति। मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्। सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम्। अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषाऽवभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यं, तेन सवृत्तिकं मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तमाहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। तस्मात्तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत्।।५।।

यच्चक्षुषा न पश्यति न विषयी करोत्यन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन, येन चक्षूंष्यन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति लोकश्चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति तदेवेत्यादि पूर्ववत्।।६।।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेनाऽऽकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोको येन श्रोत्रमिदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेवेत्यादि पूर्ववत् ।।७।।

यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।८।।
इति प्रथमः खण्डः।।१।।

जिसे (कोई) नासिका छिद्रवर्ती घ्राण के द्वारा विषय नहीं करता है किन्तु जिस (चैतन्य आत्म ज्योति) से घ्राण अपने विषयों के प्रति जाता है उसी को तुम ब्रह्म जानो, जिस इस (देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ।।८।।

यत्प्राणेन घ्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति येन चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते। तदेवेत्यादि सर्वं समानम्।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये प्रथमः खण्डः।।१।।

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्। ययोर्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानाद्दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः । अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्चिच्छित्सतः प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः केनेषितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते। तेन च मृत्युपदमज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः। अनधिगतत्वादात्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा। कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्। अस्य विजिज्ञासितव्यस्याऽऽत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्। कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते। निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्" इत्यादिश्रुतेः। न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कंचन नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति

संबुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते। न ह्यात्मानमवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति। न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम्। अतः कर्मविषयेऽनुक्तिर्विज्ञानविशेषविषयैव जिज्ञासा। कर्मानारम्भ इति चेन्न। निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्। यदि ह्यात्मविज्ञानेनाऽऽत्माविद्याविषयत्वात्परितित्याजयिषितं कर्म ततः "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयानल्पफलत्वादायासबहुलत्वात्तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेरिति चेत्सत्यम्। एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादिदोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य। "कामान्यः कामयते" (मु. ३/२/२) "इति नु कामयमानः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। न निष्कामस्य। तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि। "देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा" इत्युपक्रम्याऽऽत्मयाजी तु करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते" इति संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके।

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।" (मनु. २/२८)

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गी. १८/५)

इत्यादिस्मृतेश्च। प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्मप्राप्त्यर्थमेव भवति। निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्माष्ट्र्यै भवति। आदर्शनिर्मार्जनवत्। उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो, निरर्थकत्वात्।

" कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" इति। (महा. शा. २४२/७)

"क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्" इति "त्यागेनैके" "नान्यः पन्था विद्यते" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च न्यायाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य, ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, "अमृतत्वं हि विन्दते" "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। नहि नद्याः पारगो नावं न मुञ्चति यथेष्टदेशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति। नहि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः स्वभावसिद्धश्चाऽऽत्मा तथा नाऽऽपिपयिषितः। आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्। नापि विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वादविषयत्वादमूर्तत्वाच्च।

श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" इत्यादि। स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" इति। न च संचिकीर्षितः। "शुद्धमपापविद्धम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अनन्यत्वाच्च। अन्येनान्यत्संस्क्रियते न चाऽऽत्मनोऽन्यभूता क्रियाऽस्ति, न च स्वेनैवाऽऽत्मना स्वमात्मानं संचिकीर्षेत्। न च वस्त्वन्तराधानं नित्यं प्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या। नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य। अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः। अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेरात्मविज्ञानाय केनेषितमित्याद्यारम्भः। प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा, नानधिष्ठितानाम्। मनआदीनां चाचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुरस्तित्वे। करणानि हि मनआदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते। तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातर्युपपद्यते। तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते केनेषितं केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः। मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः प्रेषितमिवेत्युपमार्थः। न त्विषितप्रेषितशब्दयोरर्थाविह संभवतः। न हि शिष्यानिव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्। प्राण इति नासिकाभवः। प्रकरणात्। प्रथमत्वं चलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः। चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु। तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य। प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत्। वाचो वदनं किंनिमित्तं प्राणिनां, चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता। करणानामधिष्ठाता चेतनावान्यः स किंविशेषण इत्यर्थः ।।१।।

श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्याऽऽत्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वमित्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनस्यार्थः। अनुगमात्तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि। कथं? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम्। शब्दोपलब्धृरूपतयाऽवभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्। आत्मनश्च चिद्रूपत्वात्। यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते। यथा क्षत्रस्य क्षत्रं यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्नि-

निमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाऽग्निरुच्यते। उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते तद्वदनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि। उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमग्नाविवौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्दग्धेवोपलब्धोच्यते। श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या, नित्या चाऽऽत्मन्यतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमादुपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति। मनआदिष्वेवं यथोक्तम्। वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम्। कथं पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः प्रथमयैव च निर्देशः। तस्य च ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया। अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम्। यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं बु [तद्बु] द्ध्वाऽतिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपितादबुद्ध्यादिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात्प्रेत्य वियुज्यान्यस्मिन्नप्रतिसंधीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति। सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसंदधते आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात्कर्मणामित्यनारम्भेऽमृता एव भवन्ति। शरीरादिसंतानाविच्छेदप्रतिसंधानाद्यपेक्षयाऽध्यारोपितमृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपत्वादमृता भवन्तीत्युपचर्यते ।।२।।

न तत्र चक्षुर्गच्छतीत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवमादिनोक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात्सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह-न तत्र चक्षुर्गच्छतीति। तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति। सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेनात आह-नो मनः। न सुखादिवन्मनसो विषयस्तत्। इन्द्रियाविषयत्वात्। न विद्मो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मनआदिकरणजातमनुशिष्यादनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत्तथाऽविषयत्वान्न विद्मो न विजानीमः। अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्तः आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुं कस्मान्न तत्र चक्षुर्गच्छती-

त्यादि पूर्ववत्सर्वमत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति। यथैतदनुशिष्यात्प्रतिपादयेत्। अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः। सर्वथाऽपि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमम्। विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्। यो हि ज्ञाता स एव सः। सर्वात्मकत्वात्। अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम्। "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" इति च मन्त्रवर्णात्। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति च वाजसनेयके। अपि च, व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः। यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम्। अस्तु तर्ह्यविदितम्। न, विज्ञानानपेक्षत्वात्। यद्ध्यविदितं तद्विज्ञानापेक्षमविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः। इदं तु विज्ञानानपेक्षं, कस्माद्विज्ञानस्वरूपत्वात्। न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते। न च स्वत एवापेक्षा। अनपेक्षमेव सिद्धत्वात्। न हि प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा यद्ध्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम्। प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपस्यापेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्। प्रकाशे विशेषाभावात्। नहि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीपप्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्यते। विरोध इति चेन्नान्यत्वात्। स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद्विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च न जानाम्यात्मानमिति। श्रुतेश्च "तत्त्वमसि" "आत्मानमेवावेत्" "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" इति च। सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते, तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेन्न। कस्मात्। अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसंघाताभिमानसंतानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्यवभासप्रधानश्चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानमवभासते। बौद्धप्रत्ययानामाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते। अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात्सर्वान्तरश्रुतेः। अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेणाऽऽकाशवदप्रचलितात्मनाऽन्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणोऽर्चिभिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैरतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः। तत्र हि विज्ञानापेक्षा

विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने। तत्त्वमसीति बोधोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्। आत्मानमेवावेदित्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात्। न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यतेऽतस्तदर्थबोधोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न। लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात्। सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः। तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ। अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यमग्निनिमित्तम् रात्र्यहनी इवाऽऽदित्यनिमित्ते लोके नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोरन्यत्र भावाभावयोर्निमित्तत्वादनित्याविवोपचर्येते। धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत्। एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः। यथा सविताऽसौ प्रकाशयत्यात्मानमिति तद्वत्। बोधाबोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि। तस्मादन्यदविदितात्। अधिशब्दश्चान्यार्थे। यद्वा यद्धि यस्याधि तत्ततोऽन्यत्सामार्थ्याद्यथाऽधि भृत्यादीनां राजा। अव्यक्तमेवाविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः। विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमित्ययं समुदायार्थः। अत एवाऽऽत्मत्वान्न हेय उपादेयो वा। अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा। न तेनैवं तद्यस्य कस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति। आत्मा च ब्रह्म सर्वान्त्वादविषयमतोऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा।अन्याभावाच्च। इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः। व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम्। ये नस्तद्ब्रह्मोक्तवन्तस्ते नित्यमेवाऽऽगमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेन तर्केणोक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये। तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति।।३।।

विदितान्यत्वम्

यद्वाचेतिमन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः। अन्यदेव तद्विदितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते। यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितमनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्। येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाशहेतुत्वोक्तिः। येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाशकत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः। उक्तं च केनेषितां वाचमिमां वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थं

आम्नायः। यद्वाचाऽनभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयत्याम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति, यत्नत उपरमयति। नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च।।४।।

यन्मनसेत्यादि समानम्। मनो मतमिति। येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेणेत्येतत्। सर्वकरणानामविषयं तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः। "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति" इति स्मृतिः। "तस्य भासा" इति चाऽऽथर्वणे। येन प्राण इति। क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत्।।५।।६।।७।।८।।

इति प्रथमः खण्डः।।१।।

।। १ – आह्निकम्।।

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।१।।१।।

यदि (कदाचित्) ऐसा मानते हो कि (ब्रह्म को) मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्म के रूप को थोड़ा ही जानते हो। इस ब्रह्म का जो मनुष्यों में आध्यात्मिक और देवताओं में आधिदैविक रूप वदित है (वह अल्प ही है)। अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। (इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर शिष्य ने एकान्त देश में विचार करने के पश्चात् कहा कि) मैंने ब्रह्म को जान लिया, ऐसा मैं समझता हूँ ।।१।।

।।अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम्।।

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्योऽहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहं मामिति गृह्णीयादित्याशङ्क्याऽऽचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थं यदीत्याह। नन्विष्टैव सुवेदाहमिति निश्चिता प्रतिपत्तिः? सत्यमिष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिर्न हि सुवेदाहमिति। यद्धि वेद्यं वस्तु विषयी भवति तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यं दाह्यमिव दग्धुमग्नेर्दग्धुर्न त्वग्नेः स्वरूपमेव। सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः। इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्नप्रतिवचनोक्त्या श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्यया। यद्वाचाऽनभ्युदितमिति विशेषतोऽवधारितम्। ब्रह्मवित्संप्रदायनिश्चयश्चोक्तोऽन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युपन्यस्तमुपसंहरिष्यति चाविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति। तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्तुम्। न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्योऽग्निरिव दग्धुमग्नेः। न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म। "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ. ३/८/११) इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात्सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद्युक्तमेवाऽऽहाचार्यो यदीत्यादि। यदि कदाचिन्मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति। कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि

क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि। दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" (छा. ८/७/४) इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड्विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः। तथेन्द्रो देवराट्सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान्। लोकेऽप्येकस्माद्गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत्कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते, किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम्। अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे। तस्मादविदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद्यदि मन्यस इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेवाऽऽचार्यस्य। दहरमल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम्। किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च येनाऽऽह दहरमेवेत्यादि। बाढम्। अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि न स्वतः। स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क. १/३/१५) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते। ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य रूपं स्यादत उच्यते। चैतन्यं पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति। तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति। ब्रह्मणो रूपमिति। ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्— "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघन एव" "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" "प्रज्ञानं ब्रह्म" इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु। सत्यमेवं, तथाऽपि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वाद्देहादिवृद्धिसंकोचच्छेदादिषु नाशेषु च न स्वतः। स्वतस्त्वविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति स्थितं भविष्यति। यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण संबन्धः। न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरमेव वेत्थेति मन्येऽहम्। यदध्यात्मं यदधिदैवं तदपि च देवेषूपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते। यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः। यत एवमथ नु तस्मान्मन्येऽद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म। एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्यथोक्तमाचार्येणाऽऽ-

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।१०।।२।।

ब्रह्म को अच्छी प्रकार जान लिया ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ, ऐसा भी नहीं समझता।अतः (ब्रह्म को) मैं जानता हूँ (और नहीं भी जानता हूँ)। हम शिष्यों में से जो कोई ब्रह्म को न तो नहीं जानता हूँ और जानता भी हूँ, इस प्रकार जानता है, वही (वस्तुतः ब्रह्म को) जानता है।।२।।

गममर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वाऽऽचार्यसकाशमुपगम्योवाच मन्येऽ-हमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति।।९।।१।।

कथमिति। शृणुत। नाहं मन्ये सुवेदेति नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति। नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्तः आह—नो न वेदेति वेद च। वेद चेति च शब्दान्न वेद च। ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद चेति। यदि न मन्यसे सुवेदेति कथं मन्यसे वेद चेति। अथ मन्यसे वेदैवेति कथं न मन्यसे सुवेदेति। एकं वस्तु येन ज्ञायते तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा। न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नियन्तुं शक्यम्। संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ। एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" इत्याचार्योक्तागमसंप्रदायबलादुपपत्त्यनुभवबलाच्च जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः। कथमित्युच्यते। यो यः कश्चिन्नोऽस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद स तद्ब्रह्म वेद। किं पुनस्तद्वचनमित्यत आह—नो न वेदेति वेद चेति। यदेवान्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्युक्तं वस्त्वनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद चेत्यवोचदाचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति यो नस्तद्वेदेति ।।१०।।२।।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।११।।३।।

जिस (ब्रह्मवेत्ता)को ब्रह्म अविदित है, उसी को ब्रह्म वस्तुतः विदित है (ऐसा समझना चाहिये और) जिसे ब्रह्म विदित है वह (वस्तुतः उसे) नहीं जानता (क्योंकि वह ब्रह्म) जानने वालों को अविज्ञात रहता है और न जानने वाले को ज्ञात होता है (अर्थात् अन्य वस्तु की भाँति फलव्याप्ति का विषय न होने से और ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी होने से ऐसा कहा गया है; अतः विद्वानों की दृष्टि में स्वयंप्रकाश वह सदा अविषय ही माना गया है) ।।३।।

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवादनिर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्यामतमित्यादिना। यस्य ब्रह्मविदोऽमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेति मतमभिप्रायो निश्चयस्तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनर्मतं ज्ञातं विदितं मया ब्रह्मेति निश्चयो न वेदैव स न ब्रह्म विजानाति सः। विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षाववधारयति—अविज्ञातममतमविदितमेव ब्रह्म, विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत्। विज्ञातं विदितं ब्रह्माविजानतामसम्यग्दर्शिनामिन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवाऽऽत्मदर्शिनामित्यर्थः। न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातमस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति। इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भाद्बुद्ध्याद्युपाधेश्च विज्ञातत्वाद्विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनपूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः। ।।११।।३।।

अविज्ञातं विजानतामित्यवधृतम्। यदि (ब्रह्मात्यन्तमेवाविज्ञातं लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः। अविज्ञातं विजानतामिति च परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह)—प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। (बोधशब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते, नान्यद्द्वारमात्मनो विज्ञानायातः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तदा तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः।) सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजननापायवर्जितदृक्स्वरूपतानित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्। लक्षणभेदाभावद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु। विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थः, एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।१२।।४।।

जो बोध-बोध के प्रति (प्रत्येक बोध में प्रत्यगात्मा रूप से) विदित है, वही ब्रह्म है और यही उस ब्रह्म का ज्ञान है। ऐसे ब्रह्मज्ञान से ही अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है, ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्य मात्र मिलता है (अर्थात् विद्या से आवरण की निवृत्ति होने पर अमरत्व नित्य चैतन्य आत्मस्वरूप से ही मिलता है; अन्य से नहीं)।।४।।

भवति। "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ताविज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम्। यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते। यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्। तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यं,न बोधस्वरूप एव। बोधस्तु जायते विनश्यति च। यदा बोधो जायते,तदा बोधक्रियया सह विशेषः। यदा बोधो नश्यति,तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः। तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते। यदपि काणादानामात्ममनःसंयोगजो बोध आत्मनि समवैति। अत आत्मनि बोद्धृत्वं, नतु विक्रियात्मक आत्मा। द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी। अस्मिन्पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः। आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावान्नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्ति रपरिहार्या स्यात्। संसर्गधर्मित्वं चाऽऽत्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात्। "असङ्गो न हि सज्जते" "असक्तं सर्वभृत्" इति श्रुतिस्मृती द्वे। न्यायश्च गुणवद्गुणवता संसृज्यते,नातुल्यजातीयम्। अतो निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यते इत्येतन्न्यायविरुद्धं भवेत्। तस्मान्नित्यालुप्तविज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति,नान्यथा। तस्मात्प्रतिबोधविदितं मतमिति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः। यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्तीतिसंव्यवहारः। "आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति" (बृ. ४/४/२३) "स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" (गी. १०/१५) इति। नतु निरुपाधिकस्याऽऽत्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति। संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न संभवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस मनुष्य जन्म रहते-रहते नहीं जाना तो बड़ी भारी क्षति होगी। अतः बुद्धिमान् पुरुष समस्त प्राणियों में उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष अनुभव करके इस लोक से जाकर (अद्वैतभाव रूप से) अमर हो जाते हैं (अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं) ।।५।।

।। इति द्वितीयः खण्डः ।।

संभवस्तद्वत्। बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"। "नित्यं विभुं सर्वगतम्" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्। यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधो यथा सुप्तस्येत्यर्थं परिकल्पयन्ति। सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे। निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वममरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद्विन्दते लभते यथोक्तात्प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्माऽऽत्मविषयं च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवत्यात्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव। एवंमर्त्यत्वमात्मनो यदविद्ययाऽनात्मत्वप्रतिपत्तिः। कथं पुनर्यथोक्तयाऽऽत्मविद्ययाऽमृतत्वं विन्दते? आह-आत्मना स्वेन स्वरूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुमनित्यवस्तुकृतत्वात्। आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येनेत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्यभिभवितुम्। यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दतेऽतो विद्ययाऽऽत्मविषयया विन्दतेऽमृतम्, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्याथर्वणे। अतः समर्थो हेतुः, "अमृतत्वं हि विन्दते" इति।।१२।।४।।

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानादत इहैव चेन्मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन्यद्यवेदीदात्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान्यथोक्तेन प्रकारेण। अथ तदास्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते। न चेदिहावेदीदिति। न चेदिह

जीवंश्चेदधिकृतोऽवेदीन्न विदितवांस्तदा महती दीर्घाऽनन्ता विनष्टिर्विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिस्तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणा भूतेभ्रु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु चैकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीरा धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणादविद्यारूपादस्माल्लोकादुपरम्य सर्वात्मैकत्वभावमद्वैतमापन्नाः सन्तोऽमृता भवन्ति इत्यर्थः। "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु. ३/२/९) इति श्रुतेः ।।१३।।५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ केनोपनिषत्पदभाष्ये द्वितीयः खण्डः ।।२।।

अथ श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं वाक्यभाष्यम्।

यदि मन्यसे सुवेदेति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै। विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्योपास्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति। यदि मन्यसे सुवेदाहं ब्रह्मेति त्वं, ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यते इत्याचार्यः। सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते पूर्वगृहीते वस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै। देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम्। कस्मात्। अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः। अथवाऽल्पमेवास्याऽऽध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति संबन्धः। अथ न्विति हेतुर्मीमांसायाः। यस्माद्दहरमेव सुविदितं ब्रह्मणो रूपमन्यदेव तद्विदितादित्युक्तत्वात्सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यमेवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभवः इत्यर्थः। मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसंगतेः। सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव ते इति चोक्तः एकान्ते समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहाऽऽगमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम्। एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्नानिश्चितेति न्यायः प्रदर्शितो भवति। मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः ।।९।।१।।

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीतःआचार्यात्मनिश्चययोस्तुल्यतायै। यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेदेति। अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत्। सोऽपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात्स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात्। अतो नाह मन्ये सुवेदेति। यस्माच्च तन्नैव न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते। अविदितब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यस इत्युक्त आह–वेद च। चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः। विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणस्तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः। अथवा वेद चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं, स्वरूपविक्रियाभावात्। विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति। यो नस्तद्वेद तद्वेदेतिपक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः। उपास्यब्रह्मवित्त्वात् अतोऽन्यस्य यथाऽहं वेदेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयते इत्युच्यते। उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ।।१०।।२।।

यस्यामतमिति श्रौतमाख्यायिकार्थोपसंहारार्थम्। शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणयाऽनुभवयुक्तिप्रधानयाऽऽख्यायिकया योऽर्थः सिद्धः, स श्रौतेन वचनेनाऽऽगमप्रधानेन निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते। यदुक्तं विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात्। मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव ज्ञातव्यं, कस्मात्। यस्यामतं यस्य विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्यामतमविज्ञातमविदितं ब्रह्मेत्यात्मत्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा निवृत्तेत्यभिप्रायः। तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म येनाविषयत्वेनाऽऽत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी, यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात्सर्वतः कार्याभावो, विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथं? मतं विदितं ज्ञातं मया ब्रह्मेति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी, विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद,स न विजानाति। ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्। अब्रह्मविषयतया निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादनवस्थिततर्कजन्यत्वाद्विविदिषाऽनिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च–

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (मनु. १२/९५)

इति। विपरीतमिथ्याज्ञानयोरनिष्टत्वादिति। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्याऽऽनर्थक्यात्। अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते। अविज्ञातमविदितमात्मत्वेनाविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात्तस्मात्तदेव ज्ञानं, यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं ब्रह्माविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूपमात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवमविजानताम्। बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म। तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन च सविकल्पमयथार्थविषयत्वात्। शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ।।११।।३।।

प्रतिबोधविदितं मतमिति वीप्साप्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वाद्बोधं प्रति बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था। बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययास्तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्तत्वाद्विज्ञानस्वरूपावभासास्तदन्यावभासश्चाऽऽत्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ। तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्मतया यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानं यत्प्रत्यगात्मविज्ञानं न विषयविज्ञानम्। आत्मत्वेन प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके। "अमृतत्वं हि विन्दते" इति हेतुवचनं विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तमिति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति। आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते? न। कथं तर्हि। आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते। नाऽऽलम्बनपूर्वकम्। विन्दत इत्यात्मविज्ञानापेक्षम्। यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत्। अतो न विद्योत्पाद्यम्। यदि चाऽऽत्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते। अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते। यत आह वीर्यं विद्यया विन्दते। वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च

किंविशिष्टम्। अमृतमविनाशि। अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि। विद्ययाऽविद्याया बाध्यत्वात्। न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम्। अतो विद्याऽमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाऽऽथर्वणे। लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न शरीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः। अथवा प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेष-विपरीतनिरस्तसंस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति। अथवा गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन वा विदितं मतमित्युभयत्र प्रतिबोधनशब्दप्रयोगोऽस्ति। सुप्त-प्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति। पूर्वं तु यथार्थम् ।।१२।।४।।

इह चेदवेदीदित्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः। इह मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते। कथमिह चेद्विवेदीद्विदितवान्। अथ सत्यं परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः। न चेदिहावेदीन्न विदितवान्वृथैव जन्म। अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्याद्यतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेयः आत्मा। ज्ञानेन तु किं स्यादित्युच्यते— भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेष्वित्यर्थः। विचित्य पृथङ्निष्कृष्यैकमात्मतत्त्वं संसार-धर्मैरस्पृष्टमात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः। अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। न पुनश्चित्वेति संभवति चयन विरोधात्। धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः। प्रेत्य मृत्वाऽस्माल्-लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणाद्व्यावृतममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ।।१३।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ।।२।।

।। २ आह्निकम् ।।

परमेश्वरस्योपाधिः : शुद्धसत्त्वप्रधाना त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरित्यर्थः
जीवस्योपाधिरविद्या = मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृतेरेव रूपान्तरमित्यर्थः
माया च अविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतेः
)प्रमाणान्तरविरोधे सति ① प्रमाणान्तरावगतार्थे (बोधकोऽर्थवादः —स्त्रियामलः
तर्थवादः ② विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादः
③ तत्काले तद्गुणज्ञापकः
आदित्यो यूपः ② eg अग्निर्हिमस्य भेषजम् दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध
प्रशस्ति निन्दा अन्यतर वाक्यं अर्थवादः और बोध दोनों से रहित
यथा येनाश्रुतं श्रुतं भवति इति अद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् ③ eg वज्रहस्त पुरन्दरः
विधीनप्रवृत्ति उत्तम्भकः प्रकरणप्रतिपद्यस्य प्रशंसनम्.

(a) ब्रह्माविज्ञातत्वाद् असदेवेति मन्दबुद्धिनां व्यामोहो मा भूदिति
(b) अथवा ब्रह्म विद्यायाः स्तुतये
(c) प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्यायिका। "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"
(d) ग्रामाद्यर्थो वाऽऽख्यायो ऽभिमानघातनात् ॥
(e) सगुणोपासनार्थो वा अपेक्षितवान्

अथ तृतीयः खण्डः

देवताओं का गर्व।

अर्थवाद:

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो
विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्मा-
कमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।।१४।।१।।

यह प्रसिद्ध है कि पूर्वोक्त ब्रह्म ने (देवासुर संग्राम में) देवताओं के लिये (असुरों को) जीता। उसी ब्रह्म की विजय में देवता लोग महिमान्वित हुए (उस बात को भूलकर) देवताओं ने सोचा, यह विजय हमारी ही है और यह महिमा भी हमारी ही है।।१।।

।। अथश्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितंपदभाष्यम्।।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद्यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैर्यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासद्दृष्टम्। तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिकाऽऽरभ्यते। (a) तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परो देव ईश्वराणामपीश्वरो दुर्विज्ञेयो देवानां जयहेतुरसुराणां पराजयहेतुस्तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते। अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। (b) कथं? ब्रह्मविज्ञानाद्ध्यग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुस्ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति। अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत्प्रदर्श्यते। येनाग्न्यादयोऽतितेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदितवन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्येत्येतद्दर्शनार्थं वाऽऽख्यायिका। (c) यथा देवानां जयाद्यभिमानस्तद्वदिति। ब्रह्मयथोक्तलक्षणं परं ह किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवद्देवानामसुराणां च सङ्ग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेतृन्देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्न्यादयोऽमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तस्तदाऽऽत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेर्जगतः स्थितिं चिकीर्षोरयं जयो महिमा चेत्यजानन्तस्ते देवा ऐक्षन्तेक्षितवन्तोऽग्न्यादिस्वरूप-

(4) ता कर दूत अनल जेहि सिरजा / जरा न सो तेहि कारण गिरिजा (दूत)
जारा नगर निमिष (created) एक माहिं । एक विभीषण कर गृह नाहीं ।

यक्ष का प्रादुर्भाव.

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ।।१५।।२।।

अग्नि की परीक्षा. (3-6) (4)

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।१६।।३।।

देवताओं के (इस मिथ्या) अभिप्राय को उस ब्रह्म ने जान लिया (और वह) देवताओं के सामने (अपने योगमाहात्म्य से निर्मित यक्ष रूप में) प्रकट हुआ। (तब देवता लोग) उसे न जान सके कि यह यक्ष कौन है।।२।।

उन देवताओं ने अग्नि से कहा—हे जातवेद! इसे जानो तो सही, कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने कहा—अच्छी बात।।३।।

परिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमाऽग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते,नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ।।१४।।१।।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवताम्—

तद्ध किलैषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म। सर्वेक्षितृ हि तत्सर्वभूतकरण-प्रयोक्तृत्वाद्देवानां च मिथ्याज्ञानमुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्याभिमानात्पराभवेयुरिति तदनुकम्पया देवान्मिथ्याभिमानापनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यो ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव। तत्प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तो देवाः। किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूत-मिति ।।१५।।२।।

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवोऽग्निमग्रगामिणं जातवेदसं सर्वज्ञकल्प-मब्रुवन्नुक्तवन्तो हे जातवेद।एतदस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्ते-जस्वी किमेतद्यक्षमिति। तथाऽस्त्विति। तद्यक्षमभ्यद्रवत्तत्प्रतिगतवानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृ-च्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षमभ्यद्रव(वद)दग्निं प्रत्यभाषत कोऽसीति। एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निरब्रवीदग्निर्वा अग्निनामाऽहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयाऽऽत्मानं श्लाघयन् इत्येवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत्तस्मिन्नेवं प्रसिद्धगुणनामवति

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्य-
ब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ।।१७।।४।।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं
पृथिव्यामिति।।१८।।५।।

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न
शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं
यदेतद्यक्षमिति ।।१९।।६।।

(अग्निदेव) उस यक्ष के पास गया। (कुछ पूछने की इच्छा से आये हुए उस) अग्नि से यक्ष ने पूछा—तू कौन है? उसने कहा—मैं अग्नि हूँ, निश्चय ही मैं जातवेदा हूँ।।४।।

(फिर यक्ष ने पूछा—) उस (जातवेदा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (अग्नि ने कहा—) पृथिवी में यह (स्थावरादि) जो कुछ है, उन सभी को मैं जला सकता हूँ ।।५।।

(तब यक्ष ने) उस अग्नि के लिये तिनका रख दिया (और कहा—) इसे जलाओ। अग्नि उस तिनके के पास गया और अपने सारे वेग से भी उस तिनके को जला न सका, वह उस यक्ष के पास से लौट आया और कहा—मैं इस बात को न जान सका कि यह यक्ष कौन है ।।६।।

त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यमिति। सोऽब्रवीदिदं जगत्सर्वं दहेयं भस्मीकुर्याम्, यदिदं स्थावरादि पृथिव्यामिति। पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थं यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यते एवाग्निना। तस्मा एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवद्ब्रह्मैतत्तृणमात्रं ममाग्रतो दह न चेदस्य दग्धुं समर्थो मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्रेत्युक्तस्तत्तृणमुपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान्सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन गत्वा न शशाक नाशकद्दग्धुं स जातवेदास्तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञस्तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान्। नैतद्यक्षमशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतो यदेतद्यक्षमिति ।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।।१९।।६।।

आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।
जो वेद और धर्मशास्त्रको, वेदशास्त्रके अनुकूल तर्क के सहारे विचारता है
वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं जानता॥ मनुस्मृति; 12-106.

वायु की परीक्षा (7-11)

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति
तथेति ।।२०।।७।।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्य-
ब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ।।२१।।८।।

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय
यदिदं पृथिव्यामिति।।२२।।९।।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन
तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।२३।।१०।।

तत्पश्चात् (उन देवताओं ने) वायु से कहा— हे वायो! इस बात को जानो तो सही कि यह यक्ष कौन है? (वायु ने कहा—) अच्छी बात ।।७।।

वायु उस यक्ष के पास गया। यक्ष ने वायु से पूछा —तू कौन है? वायु ने कहा— मैं वायु हूँ। निःसन्देह मैं (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) मातरिश्वा ही हूँ।।८।।

(तब यक्ष ने पूछा—) उस (मातरिश्वा रूप) तुझमें क्या सामर्थ्य है? (वायु ने कहा—) पृथिवी में जो कुछ है उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ।।९।।

(तब यक्ष ने) उस वायु के लिये एक तिनका रख दिया (और कहा—) इसे पकड़ो। वायु उस तिनके के पास गया, पर अपने सारे वेग से भी वह उस तिनके को ग्रहण नहीं कर सका। तब वायु उसके पास से ही लौट आया और कहा— यह यक्ष कौन है इसे मैं न जान सका।।१०।।

अथ वायुमित्यथानन्तरं वायुमब्रुवन्हे वायवेतद्विजानीहीत्यादि समानार्थं पूर्वेण। वानाद्-गमनाद्गन्धनाद्वायुः। ~~मातर्यन्तरिक्षे~~ मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा। इदं सर्वमप्याददीय गृह्णीयाम्। यदिदं पृथिव्यामित्यादि समानमेव ।।२०।।७।।२१।।८।।२२।।९।।२३।।१०।।

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति
तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ।।२४।।११।।

उमा का प्रादुर्भाव.

स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमाना-
मुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्ष- विद्या.
मिति।।२५।।१२।।

"विद्यासहायभवानीश्वरः" इति सूक्तेः

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

तत्पश्चात् (देवताओं ने) इन्द्र से कहा— हे मघवन्! यह यक्ष कौन है, इसे जानो तो सही। तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर इन्द्र यक्ष के पास गया; किन्तु वह यक्ष इन्द्र के सामने से तिरोहित हो गया (अर्थात् इन्द्र से बात भी नहीं की) ।।११।।

(जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था) उसी आकाश में एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के पास वह इन्द्र आया और स्वर्णाभरण-भूषिता अथवा हिमालयतनया रूप उस उमा से कहा—यह यक्ष कौन है?।।१२।।

।। इति तृतीयः खण्डः।।

अथेन्द्रमिति अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहीत्यादि पूर्ववत्। इन्द्रः परमेश्वरो मघवान्बलवत्त्वात्तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मादिन्द्रादात्मसमीपं गतात्तद्ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतमिन्द्रस्येन्द्रत्वाभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद्-ब्रह्मेन्द्राय, तद्यक्षं यस्मिन्नाकाशे आकाशप्रदेश आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतमिन्द्रश्च ब्रह्मणस्तिरोधानकाले 'यस्मिन्नाकाश आसीत्स इन्द्रस्तस्मिन्नेवाऽऽकाशे तस्थौ। किं तद्यक्षमिति ध्यायन्न निववृतेऽग्न्यादिवत्तस्येन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्योमारूपिणी प्रादुरभूत्स्त्रीरूपा। स इन्द्रस्तामुमां बहुशोभमानां सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमां विद्यां तदा बहुशोभमानेति विशेषणमुपपन्नं भवति। हैमवतीं हेमकृताभरणवतीमिव

अविद्या वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य सौषुप्त आनन्द का कारण.
आयत्त = अधीन = आ + यत् + क्त.

बहुशोभमानामित्यर्थः। अथवोमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यमेव सर्वज्ञेनेश्वरेण सह वर्तत इति ज्ञातुं समर्थेति कृत्वा तामुपजगाम। इन्द्रस्तां होमां किलोवाच पप्रच्छ ब्रूहि किमेतद्दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षमिति ।।२४।।११।।२५।।१२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये तृतीयः खण्डः ।।३।।

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था। समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः। अतः ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते। तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति। शमाद्यर्थो वाऽऽम्नायोऽभिमानशातनात्। शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहितस्याभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्राह्यत्वाद्ब्रह्मणः। यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति। ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे। तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते। सगुणोपासनार्थो वाऽपोदितत्वात्। नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वेत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति। ब्रह्मेति परो लिङ्गात्। नह्यन्यत्र परादीश्वरान्नित्यसर्वज्ञात्परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति तन्न शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते। नह्यन्यथाऽग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वाऽऽदातुम्। ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्री भवतीत्युपपद्यते। तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञाने ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते। यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसंबन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि

+ अप वद् इत संप्रसारण अप उदित = अपोदित = निन्दितत्वात्
अनुमानम् :- यस्तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मो वेद नेतरः (मनु) 12-106.
जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्.

दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति। कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवद्विपक्षे आत्मादिवत्। कर्मण एवेति चेत्। न, परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात्। यदिदमुपभोगवैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च तत्र नित्यसर्वज्ञकर्तृकम्। किं तर्हि कर्मण एव तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात्सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात्। सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत्। न, कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्येत। कस्मात्? कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः। चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमादुपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ, कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति, न, देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात्। यदि हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः सन्स्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात्। न च निर्निमित्तं तदनिच्छयाऽऽत्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म। नचाऽऽत्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाक्रष्टृ भवति प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः। भूताश्रयमिति चेन्न, साधनत्वात्। कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते न हि हलं क्षेत्राद्व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात्स्वतःप्रवृत्त्यनुपपत्तिः। वायुवदिति चेन्नासिद्धत्वात्। न हि वायोरचितिमतः स्वतःप्रवृत्तिःसिद्धा रथादिष्वदर्शनात्। शास्त्रात्कर्मण एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः स्वर्गकामोयजेतेत्यादि। न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्। न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत्। न दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः। क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलाऽदृष्टफला च। दृष्टफलाऽपि द्विविधाऽनन्तरफलाऽऽगामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा। कालान्तरफला च कृषिसेवादिलक्षणा। तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव, कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी। आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलं यतो न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म

ततो वा फलं दृष्टम्। तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते। तस्माच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते, स चाऽऽत्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः श्रुतेश्च। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" "जरामृत्युमत्येति" "विजरो विमृत्युः"। "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" "एष सर्वेश्वरः" "पुण्यं कर्म कारयति"। "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" इत्याद्या असंसारिण एकस्याऽऽत्मनो नित्यमुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः, स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते। न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम्। अनन्ययोगित्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात्। न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते। अप्रतिषेधाच्च। नचेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति। प्राप्त्यभावादिति चेन्नोक्तत्वात्। न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधो नाऽऽरभ्यत इति चेन्न। ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात्। अथवाऽप्रतिषेधादिति कर्मणः फलदाने ईश्वरकालादीनां न प्रतिषेधोऽस्ति। न च निमित्तान्तरनिरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रयुक्तं फलदं दृष्टम्। न च विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति। सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिवेश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्। न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति नहि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति। एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते। बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि। यागादेः कर्मणस्तथाऽविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितुमर्हति। सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव। तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। यत्साक्षादपरोक्षाद्य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। स एव चात्राऽऽत्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रित्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेस्तत्त्वमसीति चाऽऽत्मत्वोपदेशात्। न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते। ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेन्न। भेददृष्ट्यपवादात् यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति। तन्न, किं तर्हि भेद

(a) अवच्छेदवाद = भामतीकार = अन्तःकरणावच्छिन्न जीव।
(b) आभासवाद = विवर्त = विद्यारण्य - मृद् घटः, कटककुण्डल।
(c) बिम्ब प्रतिबिम्बवाद = पद्मपादाचार्य का परम्परा
(d) अज्ञातवाद = गौडपादाचार्य ब्रह्म में सब कुछ है।
(e) आरम्भवाद = न्याय वैशेषिक / (f) परिणामवाद = सांख्य।

एव संसार्यात्मनाम्। कस्माल्लक्षणभेदादश्वमहिषवत्। कथं लक्षणभेद इत्युच्यते। ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत्। तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव। तथैव शक्तिभेदोऽपि। नित्या सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य। कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य। औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत्। राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम्। विपरीतमितरस्य। उपासीतेतिवचनादुपास्य ईश्वरो गुरुराजवत्। उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत्। अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः। पुण्यो वै पुण्येनेतिवचनाद्विपरीत इतरः। अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियोगात्संसारीतरः। अपिच यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदोऽस्ति तत्र भेदो दृष्टः। यथाऽश्वमहिषयोस्तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेन्न। कस्मात्। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ते क्षय्यलोका भवन्ति। मृत्योः स मृत्युमाप्नोतीति भेददृष्टिर्ह्यपोद्यते। एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते। यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादित्यत्रोच्यते, नानभ्युपगमात्। बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्भिन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति। एक एवेश्वरश्चाऽऽत्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते। बाह्यश्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसंतानाहंकारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानावभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते। यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः। विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः। अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते। बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरेकाभिप्रायेण तु लक्षणभेदादित्याश्रयासिद्धो हेतुः। ईश्वरादन्यस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वात्। ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वमयुक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च। न। निमित्तत्वे सति लोकविपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत्। यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याऽध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखादयश्च, न स्वतः। आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते

च जीवः ईश्वराद् विलक्षणः निरुपाधिक भेदभिन्न चैतन्यवात्
हेतुराश्रयासिद्धः यथा गगनारविन्दं सुरभि; अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्

स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीतिसत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या। एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याऽध्यारोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते। तत्स्मरणाच्च। तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्। "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" "नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्" इत्यादि। अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम्। शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति। एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः। सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात्। विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात्। मोक्षे च विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात्। अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धमेकत्वम्। तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंतानस्याहंकारसंबन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्याऽऽत्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा विपर्यये च बन्धसंज्ञा। स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः। ब्रह्म ह, इत्यैतिह्यार्थः। पुरा किल देवासुरसङ्ग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयाऽऽत्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय विजिग्येऽजैषीदसुरान्ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः ।।१४।।१।।

त ऐक्षन्तेति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः। ईश्वरनिमित्ते विजये स्वसामर्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मानमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमीश्वरमेवाऽऽत्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्डमात्राभिमानाः सन्तो यं मिथ्याप्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषयत्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मेश्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यताख्यापनार्थस्तद्धैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः। तद्ब्रह्म ह किलैषां देवानामभिप्रायं मिथ्याहंकाररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत्। ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया तेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव। महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण। तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः। किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ।।१५।।२।।

तद्विज्ञानायाग्निमब्रुवन्। तृणनिधानेऽयमभिप्रायोऽत्यन्तसंभावितयोरग्निमारुतयोस्तृणदहनादानाशक्त्याऽऽत्मसंभावना शातिता भवेदिति। इन्द्र आदित्यो वज्रभृद्वा। अविरोधात्। इन्द्रोपसर्पणे ब्रह्म तिरोदध इत्यत्रायमभिप्रायः—इन्द्रोऽहमित्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य सोऽहमग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्संभाषणमात्रमप्यनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्यादिति। तदनुग्रहायैवान्तर्हितं तद्ब्रह्म बभूव ।।१६।।३।।१७।।४।।१८।।५।। १९।।६।।२०।।७।।२१।।८।।२२।।९।।२३।।१०।।२४।।११।।

स शान्ताभिमान इन्द्रोऽत्यर्थं ब्रह्म विजिज्ञासुर्यस्मिन्नाकाशे ब्रह्मणः प्रादुर्भाव आसीत्तिरोधानं च, तस्मिन्नेव स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम। अभिप्रायोद्बोधहेतुत्वाद्रुद्रपत्न्युमा हैमवतीव सा शोभमाना विद्यैव, विरूपोऽपि विद्यावान्बहु शोभते ।।२५।।१२।।

इति तृतीयः खण्डः ।।३।।

अथ चतुर्थः खण्डः

उमा का उपदेश (1-3)

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति।।२६।।१।।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्नि-र्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ।।२७।।२।।

उस (ब्रह्मविद्या रूप उमा) ने इन्द्र से कहा—यह ब्रह्म है, तुम लोग ब्रह्म के ही विजय में इस प्रकार गौरव को प्राप्त किये हो। तब से इन्द्र ने जाना, यह यक्ष पूजनीय ब्रह्म है (स्वतन्त्र रूप से इन्द्र उसे न जान सका)।।१।।

क्योंकि अग्नि, वायु और इन्द्र इन देवताओं ने ही इस अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्म का (संवाद आदि के द्वारा) स्पर्श किया था और उन्होंने ही उसे पहले-पहल जाना कि यह ब्रह्म है, अतः वे अन्य देवताओं की अपेक्षा (ज्ञान-ऐश्वर्यादि में) बढ़-चढ़ कर हुए।।२।।

।। अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं पदभाष्यम्।।

सा ब्रह्मेति होवाच ह किल ब्रह्मण ईश्वरस्यैव विजय ईश्वरेणैव जिता असुरा यूयं तत्र निमित्तमात्रं तस्यैव विजये यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतदिति क्रिया-विशेषणार्थम्। मिथ्याभिमानस्तु युष्माकमयमस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। ततस्तस्मादुमावाक्याद्धैव विदांचकार ब्रह्मेतीन्द्रोऽवधारणात्ततो हैवेति न स्वातन्त्र्येण ।।२६।।१।।

यस्मादग्निवाय्विन्द्रा एते देवा ब्रह्मणः संवाददर्शनादिना सामीप्यमुपगतास्तस्मादैश्वर्य-गुणैरतितरामिव शक्तिगुणादिमहाभाग्यैरन्यान्देवानतितरामतिशयेन शेरत इवैते देवाः। इवशब्दोऽनर्थकोऽवधारणार्थो वा। यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते हि देवा यस्मादेनद्ब्रह्म नेदिष्ठमन्तिकतमं प्रियतमं पस्पृशुः स्पृष्टवन्तो यथोक्तैर्ब्रह्मणः संवादादिप्रकारैस्ते हि यस्माच्च हेतोरेनद्ब्रह्म प्रथमः प्रथमाः प्रधानाः सन्त इत्येतद्विदांचकार विदांचक्रुरित्येतद्-ब्रह्मेति ।।२७।।२।।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।।२८।।३।।

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३इतीन्न्यमीमिषदा३इत्यधिदैवतम् ।।२९।।४।।

(उनमें भी) अन्य देवताओं से बढ़ कर इन्द्र इसीलिये माना गया, क्योंकि उसी ने इस समीपस्थ ब्रह्म का स्पर्श किया था और उसने ही सर्वप्रथम यह ब्रह्म है, इस प्रकार (उमा के वाक्य से) इसे जाना था।।३।।

उस ब्रह्म का (उपासना सम्बन्धी) यह आदेश है, जो बिजली की चमक के समान एवं पलक मारने के समान प्रकट हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत रूप है।।४।।

यस्मादग्निवायू अपीन्द्रवाक्यादेव विदांचक्रतुरिन्द्रेण ह्युमावाक्यात्प्रथमं श्रुतं ब्रह्मेत्यतस्तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामतिशयेन शोभते इवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात्स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेत्युक्तार्थं वाक्यम् ।।२८।।३।।

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशो निरुपमस्य ब्रह्मणो येनोपमानेनोपदेशः सोऽयमादेश इत्युच्यते। किं तद्यदेतत्प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद्विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति। विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थे। विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। "यथा सकृद्विद्युत्तम्" इति श्रुत्यन्तरे च दर्शनाद्विद्युदिव हि सकृदात्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः। अथवा विद्युतस्तेज इत्यध्याहार्यम्। व्यद्युद्विद्योतितवत्, आ इव। विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः। इतिशब्द आदेशप्रतिनिर्देशार्थ इत्ययमादेश इति। इच्छब्दः समुच्चयार्थः। अयं चापरस्तस्याऽऽदेशः। कोऽसौ। न्यमीमिषत्। यथा चक्षुर्न्यमीमिषन्निमेषं कृतवत्। स्वार्थे णिच्। उपमार्थ एवाऽऽकारः। चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः। इत्यधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम् ।।२९।।४।।

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्म-
रत्यभीक्ष्णꣳसंकल्पः।।३०।।५।।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं
वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।।३१।।६।।

इसके बाद अब अध्यात्म (उपासना) का आदेश कहते हैं—जो यह मन जाता हुआ-सा कहा जाता है, वह ब्रह्म है, इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये क्योंकि इस मन से यह ब्रह्म का स्मरण करता है और बारम्बार संकल्प किया करता है।।५।।

वह यह ब्रह्म ही वन (वननीय-भजनीय) है, अतः 'वन' इस नाम से उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है, उसको सभी भूत अच्छी प्रकार से चाहते हैं।।६।।

अथानन्तरमध्यात्मं प्रत्यगात्मविषय आदेश उच्यते। यदेतद्गच्छतीव च मन एतद्ब्रह्म ढौकत इव विषयी करोतीव यथाऽनेन मनसैतद्ब्रह्मोपस्मरति समीपतःस्मरति साधकोऽभीक्ष्णं भृशं संकल्पश्च मनसो ब्रह्मविषयो मनउपाधिकत्वाद्धि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैरभिव्यज्यते ब्रह्मविषयीक्रियमाणमिव चातः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशो विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतं प्रकाशनधर्म्यध्यात्मं च मनः प्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मीत्येष आदेशः। एवमादिश्यमानं हि ब्रह्म मन्दबुद्धिगम्यं भवतीति ब्रह्मण आदेशोपदेशः। नहि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यम्।।३०।।५।।

किंच तद्ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वननीयं संभजनीयमतस्तद्वनं नाम प्रख्यातं ब्रह्म तद्वनमिति यतस्तस्मात्तद्वनमित्यनेनैव गुणाभिधानेनोपासितव्यं चिन्तनीयमिति। अनेन नाम्नोपासकस्य फलमाह-स यः कश्चिदेत-

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ।।३२।।७।।

हे गुरु जी! मुझे उपनिषद् बतलाओ। (शिष्य के ऐसा कहने पर आचार्य ने कहा—) हमने तुझे उपनिषद् कह दी। अब हम तेरे लिये ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषद् बतलायेंगे ।।७।।

द्यथोक्तं ब्रह्मैवं यथोक्तगुणं वेदोपास्तेऽभि हैनमुपासकं सर्वाणि भूतान्यभिसंवाञ्छन्ति ह प्रार्थयन्त एव यथा ब्रह्म ।।३१।।६।।

एवमनुशिष्टः शिष्य आचार्यमुवाच—

उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं भो भगवन्ब्रूहीत्येवमुक्तवति शिष्ये आहाऽऽचार्यः। उक्ताऽभिहिताते तवोपनिषत्। का पुनः सेत्याह—ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं तां परमात्मविषयत्वादतीतविज्ञानस्य वावैव त उपनिषदमब्रूमेत्युक्तामेव परमात्मविद्यामुपनिषदमब्रूमेत्यवधारयत्युत्तरार्थम्। परमात्मविषयामुपनिषदं श्रुतवत उपनिषदं भो ब्रूहीति पृच्छतः शिष्यस्य कोऽभिप्रायः। यदि तावच्छ्रुतस्यार्थस्य प्रश्नः कृतस्ततः पिष्टपेषणवत्पुनरुक्तोऽनर्थकः प्रश्नः स्यादथ सावशेषोक्तोपनिषत्स्यात्ततस्तस्याः फलवचनेनोपसंहारो न युक्तः "प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ती"ति। तस्मादुक्तोपनिषच्छेष विषयोऽपि प्रश्नोऽनुपपन्न एवानवशेषितत्वात्। कस्तर्ह्यभिप्रायः प्रष्टुरित्युच्यते। किं पूर्वोक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तरापेक्षा। अथ निरपेक्षैव। सापेक्षा चेदपेक्षितविषयामुपनिषदं ब्रूहि। अथ निरपेक्षा चेदवधारय पिप्पलादवन्नातः परमस्तीत्येवमभिप्रायः। एतदुपपन्नमाचार्यस्यावधारणवचनमुक्ता त उपनिषदिति। ननु नावधारणमिदं, यतोऽन्यद्वक्तव्यमित्याह तस्यै तपो दम इत्यादि? सत्यं वक्तव्यमुच्यत आचार्येण नतूक्तोपनिषच्छेषतया तत्सहकारिसाधनान्तराभिप्रायेण वा। किन्तु ब्रह्मविद्याप्राप्त्युपायाभिप्रायेण वेदैस्तदङ्गैश्च सह पाठेन समीकरणात्तपः प्रभृतीनाम्। न हि वेदानां शिक्षाद्यङ्गानां च साक्षाद्ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वा सहपठितानामपि यथायोग्यं विभज्य विनियोगः स्यादिति चेद्यथा

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा

.वेदाः सर्वाङ्गानि (णि!) सत्यमायतनम्।।३३।।८।।

तप, दम कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदान्त ये सब उस (ब्राह्मी उपनिषद् का आश्रय है, प्राप्ति के साधन हैं) एवं सत्य भाषण उसका आयतन (निवास) है।।८।।

सूक्तवाकानुमन्त्रणमन्त्राणां यथादैवतं विभागस्तथा तपोदमकर्मसत्यादीनां ब्रह्मविद्याशेषत्वं तत्सहकारिसाधनत्वं वेति कल्प्यते। वेदानां तदङ्गानां चार्थप्रकाशकत्वेन कर्मात्मज्ञानोपायत्वमित्येवं ह्ययं विभागो युज्यतेऽर्थसंबन्धोपपत्तिसामर्थ्यादिति चेत्। नायुक्तेः। न ह्ययं विभागो घटनां प्राञ्चति। न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते। सर्वविषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायास्तत्फलस्य च निःश्रेयसस्य,

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्"।।

तस्मात्कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते। ततोऽसदेव सूक्तवाकानुमन्त्रणवद्यथायोगं विभाग इति। तस्मादवधारणार्थतैव प्रश्नप्रतिवचनस्योपपद्यते। एतावत्येवेयमुपनिषदुक्ताऽन्यनिरपेक्षाऽमृतत्वाय।।३२।।७।।

यामिमां ब्राह्मीमुपनिषदं तवाग्रेऽब्रूमेति, तस्यै तस्या उक्ताया उपनिषदः प्राप्त्युपायभूतानि तपआदीनि। तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दम उपशमः। कर्माग्निहोत्रादि। एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्। तस्मादिह वाऽतीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपआदिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"।।

इतिमन्त्रवर्णात्। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इति स्मृतेः। इतिशब्द उपलक्षणप्रदर्शनार्थः। इत्येवमाद्यन्यदपि ज्ञानोत्पत्तेरुपकारकममानित्वमदम्भित्वमित्या-

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ।।३४।।९।।

इति चतुर्थः खण्डः ।।४।।

जो कोई निश्चयपूर्वक इस उपनिषद् को इस प्रकार जानता है वह पाप का ध्वंस कर अनन्त एवं महान् स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है, फिर वह संसार में जन्म नहीं लेता है।।९।।

।। चतुर्थः खण्ड इति केनोपनिषद् समाप्ता ।।

इस प्रकार केनोपनिषद् की श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्री कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि विरचित मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

। श्रीशङ्करः प्रीयताम्।

द्युपदर्शितं भवति। प्रतिष्ठा पादौ पादाविवास्यास्तेषु हि सत्सु प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या प्रवर्तते पद्भ्यामिव पुरुषः। वेदाश्चत्वारः सर्वाणि चाङ्गानि शिक्षादीनि षट्कर्मज्ञानप्रकाशकत्वाद्वेदानां तद्रक्षणार्थत्वादङ्गानां प्रतिष्ठात्वम्। अथवा प्रतिष्ठाशब्दस्य पादरूपकल्पनार्थत्वाद्वेदास्त्वितराणि सर्वाङ्गानि (णि?) शिरआदीनि। अस्मिन्पक्षे शिक्षादीनां वेदग्रहणेनैव ग्रहणं कृतं प्रत्येतव्यम्। अङ्गिनि गृहीतेऽङ्गानि गृहीतान्येव भवन्ति। तदायतनत्वादङ्गानाम्। सत्यमायतनं यत्र तिष्ठत्युपनिषत्तदायतनं सत्यमिति। अमायिताऽकौटिल्यं वाङ्मनःकायानां तेषु ह्याश्रयति विद्या येऽमायाविनः साधवः। नासुरप्रकृतिषु मायाविषु। "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति श्रुतेः। तस्मात्सत्यमायतनमिति कल्प्यते। तपआदिष्वेव प्रतिष्ठात्वेन प्राप्तस्य सत्यस्य पुनरायतनत्वेन ग्रहणं साधनातिशयत्वज्ञापनार्थम्।

"अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते" इति स्मृतेः ।।३३।।८।।

यो वा एतां ब्रह्मविद्यां केनेषितमित्यादिना यथोक्तामेवं महाभागां ब्रह्म

सह ना० आप्यायन्तु०। इति सामवेदीय-
तलवकारोपनिषत्समाप्ता।

है देवेभ्य इत्यादिस्तुतां सर्वविद्याप्रतिष्ठां वेदामृतत्वं हि विन्दत इत्युक्तमपि ब्रह्मविद्याफलमन्ते निगमयते—अपहत्य पाप्मानमविद्याकामकर्मलक्षणं संसारबीजं विधूयानन्तेऽपर्यन्ते। स्वर्गे लोके सुखात्मके ब्रह्मणीत्येतत्। अनन्ते इति विशेषणान्न त्रिविष्टपे। अनन्तशब्द औपचारिकोऽपि स्यादित्यत आह—ज्येय इति। ज्येये ज्यायसि सर्वमहत्तरे स्वात्मनि मुख्ये एव प्रतितिष्ठति। न पुनः संसारमापद्यते इत्यभिप्रायः ।।३४।।९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
केनोपनिषत्पदभाष्ये चतुर्थः खण्डः ।।४।।
समाप्तमिदं श्रीमच्छंकराचार्यविरचितं तलवकारोपनिषदपर-
पर्यायकेनोपनिषत्पदभाष्यम्।

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं वाक्यभाष्यम्।

तां च पृष्ट्वा तस्या एव वचनाद्विदांचकार विदितवान्। अत इन्द्रस्य बोधहेतुत्वाद्विद्यैवोमा। "विद्यासहायवानीश्वर" इति स्मृतिः। यस्मादिन्द्रविज्ञानपूर्वकमग्निवाय्विन्द्रास्ते ह्येनन्नेदिष्ठमतिसमीपं ब्रह्मविद्यया ब्रह्म प्राप्ताः सन्त पस्पृशुः स्पृष्टवन्तः। ते हि प्रथमः प्रथमं विदांचकार विदांचक्रुरित्येतत्। तस्माददतितरामतीत्यान्यानतिशयेन दीप्यन्तेऽन्यान्देवांस्ततोऽपीन्द्रोऽतितरां दीप्यते आदौ ब्रह्मविज्ञानात् ।।२६।।१।।२७।।२।।२८।।३।।

तस्यैष आदेशस्तस्य ब्रह्मण एष वक्ष्यमाण आदेश उपासनोपदेश इत्यर्थः। यस्माद्देवेभ्यो विद्युदिव सहसैव प्रादुर्भूतं ब्रह्म द्युतिमत्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म व्यद्युतद्विद्योतितवत्। आ इवेत्युपमार्थः आशब्दः। यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशते एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो व्यद्युतदिवेत्युपास्यम्। यथा सकृद्विद्युत्तमिति च वाजसनेयके। यस्माच्चेन्द्रोपसर्पणकाले

न्यमीमिषत्। यथा कश्चिच्चक्षुर्निमेषणं कृतवानिति। इतीदित्यनर्थकौ निपातौ। निमिषितवदिव तिरोभूतमित्येवमधिदैवतं देवताया अधि यद्दर्शनमधिदैवतं तत् ।।२९।।४।।

अथानन्तरमध्यात्ममात्मनोऽध्यात्मविषयमध्यात्ममुच्यत इति वाक्यशेषः। यदेतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म गच्छतीव प्राप्नोतीव विषयी करोतीवेत्यर्थः। न पुनर्विषयी करोति मनसोऽविषयत्वाद्ब्रह्मणोऽतो मनो न गच्छति। "येनाऽऽहुर्मनो मतमिंति हि चोक्तम्। गच्छतीवेति तु मनसोऽपि मनस्त्वात्। आत्मभूतत्वाच्च ब्रह्मणस्तत्समीपे मनो वर्तत इत्युपस्मरत्यनेन मनसैवैतद्ब्रह्म विद्वान्यस्मात्तस्माद्ब्रह्म गच्छतीवेत्युच्यते। अभीक्ष्णं पुनः पुनश्च। संकल्पो ब्रह्मप्रेषितस्य मनसः। अत उपस्मरणसंकल्पादिभिर्लिङ्गैर्ब्रह्म मनोऽध्यात्मभूतमुपास्यमित्यभिप्रायः ।।३०।।५।।

तस्य चाध्यात्ममुपासने गुणो विधीयते तद्ध तद्वनं तदेतद्ब्रह्म तच्च तद्वनं च तत्परोक्षं वनं संभजनीयम्। वनतेस्तत्कर्मणस्तस्मात्तद्वनं नाम। ब्रह्मणो गौणं हीदं नाम। तस्मादनेन गुणेन तद्वनमित्युपासितव्यम्। स यः कश्चिदेतद्यथोक्तमेवं यथोक्तेन गुणेन तद्वनमित्यनेन नाम्नाऽभिधेयं ब्रह्म वेदोपास्ते। तस्यैतत्फलमुच्यते। सर्वाणि भूतान्येनमुपासकमभिसंवाञ्छन्तीहाभिसंभजन्ते सेवन्ते स्मेत्यर्थः। यथागुणोपासनं हि फलम् ।।३१।।६।।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्तायामप्युपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह—उक्ता कथिता ते तुभ्यमुपनिषदात्मोपासनं च। अधुना ब्राह्मीं वाव ते तुभ्यं ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेरुपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः। वक्ष्यति हि। ब्राह्मी नोक्ता। उक्ता त्वात्मोपनिषत्। तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेत्ययं शब्दः।।३२।।७।।

तस्यै तस्या वक्ष्यमाणाया उपनिषदस्तपो ब्रह्मचर्यादि दम उपशमः कर्माग्निहोत्रादीत्येतानि प्रतिष्ठाऽऽश्रयः। एतेषु हि सत्सु ब्राह्म्युपनिषत्प्रतिष्ठिता भवति। वेदाश्चत्वारोऽङ्गानि च सर्वाणि। प्रतिष्ठेत्यनुवर्तते। ब्रह्माश्रया हि विद्या। सत्यं यथाभूतवचनमपीडाकरमायतनं निवासः सत्यवत्सु हि सर्वं यथोक्तमायतने इवावस्थितम् ।।३३।।८।।

... आरम्भ ... मङ्गलाचरण करते हैं

तामेतां तपआद्यङ्गां तत्प्रतिष्ठां ब्राह्मीमुपनिषदं सायतनामात्मज्ञानहेतुभूतामेवं यथावद्यो वेदानुवर्ततेऽनुतिष्ठति, तस्यैतत्फलमाह—अपहत्य पाप्मानम्। अपक्षय्य (क्षीय) धर्माधर्मावित्यर्थः। अनन्तेऽपारेऽविद्यमानान्ते। स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि परे ब्रह्मणि। ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति सर्ववेदान्तवेद्यं ब्रह्माऽऽत्मत्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यते इत्यर्थः ।।३४।।९।।

इति चतुर्थः खण्डः।।४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पादपूज्यशिष्य-

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ

तलवकारोपनिषदपरपर्यायकेनोपनिषद्भाष्ये[1]क्षुद्र-

गणवाक्यविवरणं समाप्तम्।

कठोपनिषद्.

।। ३ - आह्निकम्।।

उपक्रम सामान्य (a) येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये 1-20.
" विशेष (b) अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् 2-14
उपसंहार :- a अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोन्तरात्मा. 6-17
अभ्यास :- (a) न जायते म्रियते वा विपश्चित. 2-18.
(b) अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थितम् 2-22.
(c) नित्यो ऽनित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् 5-13
(d) अस्तीत्येव उपलब्धव्यः 6-13.
अपूर्वता :- (a) नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा 6-12.
(b) अशब्दमस्पर्शं 3-15.
फलं :- (a) ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूत विमृत्युरन्यो अप्येवं यो विदध्यात्मेव 6-18.
(b) समोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा. 2-13.
अर्थवाद :- (a) यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन. 2-25.
(b) मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति. 4-11
उपपत्ति :- (a) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव. 5-9.
(b) वायु (5-10) (c) सूर्य (5-11)
d. येन रूपं रसं गन्धं, 4-3.

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

काठकोपनिषत्

भगवदत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

भावः- वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें, हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

(अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते। सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति— "निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १/३/१५) इति।

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत्। तथा च वक्ष्यति— "ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २/३/१८) इति। लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति— "स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १/१/१३) इत्यादि। ननूपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च। एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः। "आयुर्वै घृतम्"

अथ प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥१॥

तथंह कुमारथं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत॥२॥

यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि विश्वजित् यज्ञ के फल को चाहते हुए वाजश्रवा के पुत्र ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपना सम्पूर्ण धन दे दिया। उस (यजमान) का नचिकेता नामक एक पुत्र था॥१॥

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणा के लिए गौएँ विभागपूर्वक) ले जायी जा रही थीं, उसी समय कुमार अवस्था वाला होते हुए भी नचिकेता में श्रद्धा (अपने पिता के हित के लिए आस्तिक्य बुद्धि) प्रविष्ट हो गयी। तब वह नचिकेता सोचने लगा॥२॥

(तै० सं० २/३/११) इत्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति। एवमुपनिषच्छब्दनिर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतो यथोक्ताधिकारि-विषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारि-विषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्तीति।

अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

तत्राऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था। उशन्कामयमानो ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ, वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः। स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्। तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलाऽऽस बभूव॥१॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धाऽऽस्तिक्य-बुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्ट-श्रद्धो नचिकेता अमन्यताऽऽलोचितवान्॥२॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।

जो जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बच्चा देने का सामर्थ्य नहीं रहा है; ऐसी गौओं का दान करने में वह दाता उन लोकों में जाता है, जो लोक आनन्द से सर्वथा शून्य हैं॥३॥

तब उसने अपने पिता से कहा— हे तात! आप मुझे (किस ऋत्विज् विशेष) को दक्षिणार्थ दोगे? इसी प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी कहा। तब क्रुद्ध होकर पिता ने उससे कहा— मैं तुझे मृत्यु को दूँगा॥४॥

(नचिकेता एकान्त में विचार करने लगा कि) मैं बहुत से (शिष्यों या पुत्रों) में प्रथम

कथमित्युच्यते — पीतोदका इत्यादिना। दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते। पीतमुदकं याभिस्ता पीतोदकाः। जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः। दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः। निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः। यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामान इत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति॥३॥

तदेवं क्रत्वसंपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं 'हे तत तात, कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि?' इति प्रयच्छसीत्येतत्। एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार। कथमित्युच्यते। बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः। मध्यमानां च बहूनां मध्यमो

किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति॥५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः॥६॥

वृत्ति से चलता हूँ और बहुतों में मध्यम वृत्ति से चलता हूँ (अधम वृत्ति से कभी नहीं चलता, फिर भला) यम का कौन ऐसा कार्य है, जिसे आज पिता मेरे द्वारा सम्पन्न करना चाहते हैं॥५॥

जिस प्रकार पूर्व पुरुष (पितृ-पितामहादि) व्यवहार कर चुके हैं, उसे देखें। (उनमें से मृषाकरण किसी का नहीं रहा है क्योंकि) मनुष्य खेती की भाँति पकता है अर्थात् वृद्ध होकर मर जाता है और फिर खेती की भाँति ही उत्पन्न होता है। (ऐसे अनित्य जीव लोक में असद् व्यवहार से क्या लाभ? अतः मुझे यम के पास भेज कर अपने सत्य का पालन करें)॥६॥

मध्यमयैव वृत्त्यैमि। नाधमया कदाचिदपि। तमेवंविशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान्पिता। स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य। नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता। तथाऽपि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति॥५॥

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानु क्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव। तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा। न च तेषु मृषा करणं वृत्तं वर्तमानं वाऽस्ति। तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषा करणम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति। यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिवाऽऽजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। पालयाऽऽत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः॥६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥
आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्र-
पशूꣳश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथि-

ब्राह्मण अतिथि बनकर अग्नि ही भवन में प्रवेश करता है। (इसीलिये साधु पुरुष) उस अतिथि को यह (अर्घ्य-पाद्य प्रदान रूप) शान्ति किया करते हैं। अतः हे वैवस्वत! (इस ब्राह्मण अतिथि नचिकेता के लिये) जल ले आओ॥७॥

जिसके घर में ब्राह्मण (अतिथि) भोजन किये बिना ही निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष को ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाओं, इनके सम्बन्ध से होने वाले फल, (अग्निहोत्रादि) इष्ट और (वापी-कूप-तडागादि निर्माणरूप) पूर्त कर्मों के फल, समस्त पुत्र तथा पशु आदि को यह नष्ट कर देता है। (अतः सभी अवस्थाओं में अतिथि सत्कार के योग्य है)॥८॥

हे ब्रह्मन्! तुझे नमस्कार हो, मेरा कल्याण होवे (पूर्व मन्त्रोक्त अनिष्ट न हो)। तुम

स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास। स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते। प्रोष्याऽऽगतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते॥७॥

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा, निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे। संगतं सत्संयोगजं फलं सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च। इष्टापूर्ते इष्टं यागादिजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्। पुत्रपशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्। पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य। यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्वप्यतिथिरित्यर्थः॥८॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्-तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीरुषितवानसि गृहे मे ममानश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते

र्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो
माऽभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणि-
र्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

नमस्कार योग्य अतिथि होते हुए भी मेरे घर पर तीन रात्रि भोजन किये बिना रहे। अतः एक-एक रात्रि अनशन के बदले में मुझसे (एक-एक वरदान अर्थात्) तीन वरदान माँग लो ॥ ९ ॥

हे मृत्यु! (मेरे पिता) गौतम (वाजश्रवस) मेरे प्रति जैसे शान्त सङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हों तथा तुम्हारे लौटा देने पर मुझे (पूर्ववत्) पहिचान कर वार्तालाप करें; यही (आपके दिये हुए) तीन वरों में से पहला वर मैं माँगता हूँ ॥ १० ॥

मुझसे प्रेरित हुआ अरुण पुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहिचान कर (प्रेम करेगा) और (शेष जीवन की) रात्रियों में सुख पूर्वक सोएगा, क्योंकि मृत्यु के मुख से छूटा हुआ तुझे देखेगा ॥ ११ ॥

तुभ्यमस्तु भवतु। हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ता-द्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन। यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिक-प्रसादनार्थमनशनेनोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वाभिप्रेतार्थविशेषान्प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्भगवञ्शान्तसङ्कल्प उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति हे मृत्यो। किंच त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मा मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममाऽऽगत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

ततो मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः। उद्दालक एवौद्दालकिः।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥१२॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥१३॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं

हे मृत्यु! स्वर्गलोक में (रोगादि निमित्तक) कुछ भी भय नहीं है। वहाँ पर आपका भी वश नहीं चलता। न कोई वहाँ पर वृद्धावस्था से ही डरता है बल्कि स्वर्गलोक में पुरुष क्षुधा एवं पिपासा दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठ जाता है और आनन्दित होता है॥१२॥

हे मृत्यु! (पूर्वोक्त गुणविशिष्ट) स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को आप जानते हैं, उसे मुझ श्रद्धालु को बतलावें (जिसके द्वारा) स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व (देवत्व) को प्राप्त करते हैं। बस! मैं द्वितीय वर से यही माँगता हूँ॥१३॥

हे नचिकेता! उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को अच्छी प्रकार जानता हुआ मैं तेरे लिए उसे

अरुणस्यापत्यमारुणिर्द्व्यामुष्यायणो वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्सन्मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम्॥११॥

नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चिदपि नास्ति। न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कश्चित्तत्र। किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन च वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये॥१२॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स्वर्ग्यं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासीत्यर्थः। हे मृत्यो, यतस्तं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने। येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्। प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि। यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्वि-

नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥१४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका
यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः॥१५॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य-

कहता हूँ। तू उस अग्नि विज्ञान को मुझसे अच्छी प्रकार समझ ले। इसे तू अनन्त लोकों की प्राप्ति का साधन, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुफा में उसे स्थित जान॥१४॥

तदनन्तर यमराज ने लोकों के आदिकारणरूप उस अग्निविद्या को नचिकेता के लिए कह दिया। उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उसका भी वर्णन नचिकेता के प्रति कर दिया और उस नचिकेता ने भी जैसे के तैसे उस अग्निविद्या को सुना दिया। इससे प्रसन्न होकर मृत्यु ने फिर कहा॥१५॥

महात्मा (यमराज) ने प्रसन्न होकर उस नचिकेता से कहा— अब मैं तुझे एक वरदान

ज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः। प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम्। अधुनाऽग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत्। अथो अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो विराड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः॥१४॥

इदं श्रुतेर्वचनम्। लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे। किंच या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण। यावतीर्वा संख्यया। यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः। स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान्। अथास्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः॥१५॥

कथं? तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि। तवैव नचिकेतसो नाम्नाऽभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः। किञ्च सृङ्कां

ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः

सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥१६॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति

जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा

निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति॥१७॥

और भी देता हूँ, यह अग्नि (लोक में अब) तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेकरूपमयी माला को ग्रहण कर॥१६॥

नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (उसका विज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला, या माता, पिता एवं आचार्य) इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त कर जन्म तथा मृत्यु को पार कर जाता है, एवं ब्रह्म से उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुति के योग्य देव को (शास्त्र से जान कर तथा आत्मभावेन) अनुभव कर इस प्रत्यक्ष आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त करता है॥१७॥

शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु। यद्वा सृङ्कामकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः॥१६॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाऽऽह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्-तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा। त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत्। तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते। यथा ''मातृमान्पितृमान्'' (बृ० ४/१/२)इत्यादेः। वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा। तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा। त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू। किञ्च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योत-नाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा गृहीत्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति। वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥१९॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् है, (वह) अग्नि के इस त्रय को (अर्थात् ईंटें कौन हैं, कितनी संख्या में हैं और किस प्रकार अग्नि का चयन किया जाय, इसे) जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पहले मृत्यु के बन्धन (अधर्म, अज्ञान, राग-द्वेषादि) को नष्ट कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है॥१८॥

हे नचिकेता! तूने जिसे द्वितीय वर से वरण किया था, वह यह स्वर्ग का साधनभूत अग्नि तुझे बतला दिया गया। अब लोग इस अग्नि को तेरे नाम से ही कहेंगे। अतः हे नचिकेता! अब तू तीसरा वर माँग ले (क्योंकि इसे दिये बिना मैं तेरा ऋणी हूँ)॥१९॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरति प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदित्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः। प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत्। मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या॥१८॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यो, यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण, सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः। किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्ह्यदत्ते ऋणवानहमित्यभिप्रायः॥१९॥



येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयम्-

मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह संशय होता है, कुछ लोग (जीव का) अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जानूँ, बस। वरों में से यही मेरा तीसरा वर है॥२०॥

इस विषय में पहले देवताओं को भी संदेह हुआ था क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म सरलता



एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषयं याथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्याऽऽत्मनि क्रियाकारकफलाद्यध्यारोपणलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याऽप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति—

यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते। नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्। येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहमनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया। वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह— देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुविज्ञेयं सुष्ठु विज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो

णुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥२१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्ति-

से जानने योग्य नहीं है। हे नचिकेता! तू (इसके बदले) दूसरा वर माँगले, मुझे रोक नहीं, इसे तू मेरे लिय छोड़ दे॥२१॥

(नचिकेता ने कहा) हे मृत्यु! इस विषय में निश्चय ही देवताओं को भी सन्देह हुआ था और आप भी इसे सुगमता से जानने योग्य नहीं कहते हैं। (इससे तो यह मुझे अभीष्टतर प्रतीत होता है) इस गहन तत्त्व का वक्ता भी तो आपके समान दूसरा कोई नहीं मिल सकेगा और इसके समान दूसरा कोई वर भी नहीं है॥२२॥

हे नचिकेता! तू सौ की आयु वाले (शतायु) बेटे और पोते एवं बहुत से पशु, हाथी,

---

वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुञ्चैनं वरं मा मां प्रति॥२१॥

एवमुक्तो नचिकेता आह—

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम्। त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुविज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयस्यतः पण्डितैरुपदेशनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणोऽपि। अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः॥२२॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व। किंच गवादिलक्षणान्बहून्पशून्। हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम्। अश्वांश्च। किञ्च भूमेः

हिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं चेदल्पायुरिति.
च जीव शरदो यावदिच्छसि॥२३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं
चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि भव.
कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥२४॥ सत्यसंकल्पत्वात्

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाꣳश्-
इच्छात: श्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या

सुवर्ण तथा घोड़े माँग ले। विस्तृत भू-मण्डल का राज्य भी माँग ले और स्वयं भी जितने वर्ष तक जीना चाहे (उतने वर्ष तक) जीवित रहे॥२३॥

इसी के समान यदि तुम कोई (अन्य) वर समझते हो (तो उसे भी माँग लो) धन और चिरस्थायी जीवन भी माँग लो। हे नचिकेता! इस विस्तृत भूमि में (तू राजा होकर) वृद्धि को प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओं को इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ॥२४॥

इस मनुष्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं, उन सभी भोगों को तुम स्वेच्छा से माँग लो। यहाँ पर रथ और वाजों के सहित जो दिव्य अप्सराएँ हैं, ऐसी (स्त्रियाँ हम जैसे देवताओं की

पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलसाम्राज्यं वृणीष्व। किञ्च सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह। स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम्॥२३॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किञ्च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किञ्चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः॥२४॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके, सर्वांस्तान्कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व। किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः। सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादि-

न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।आभिर्मत्प्रत्ताभिः
परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः॥२५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां
जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो। लप्स्यामहे

कृपा के बिना) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होती। मेरे द्वारा दी हुई (इन सेविकाओं) से तू अपनी सेवा करा। पर हे नचिकेता! मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ॥२५॥

हे यमराज! ये भोग कल तक रहेंगे या नहीं, ऐसे अनित्य हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं (अनित्य संसार में आपके द्वारा दिया हुआ) यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा है। अतः आपके वाहन और नाच-गान आपके पास ही रहें! (हमें उनकी आवश्यकता नहीं)॥२६॥

मनुष्य (अधिक) धन से भी तृप्त होने योग्य नहीं है। अब यदि आपको हमने देख लिया

प्रसादमन्तरेण। आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्वाऽऽत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयाऽऽत्मन इत्यर्थः। नचिकेतो!मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं माऽनुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि॥२५॥

एवं मृत्युना प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—

श्वोभावाः श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः। किञ्च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो, यदेतत्-सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षन्त्यप्सरः प्रभृतयो हि भोगा अनर्थायैवैते। धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका। अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयस्तथा नृत्यगीते च॥२६॥

किञ्च-न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। न हि वित्तलाभः लोके कस्यचित्तृप्तिकरो

वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदी-
शिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः
प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे
जीविते को रमेत॥२८॥

तो धन को हम प्राप्त कर ही लेंगे एवं जब तक आप (इस याम्य पद पर) शासन करेंगे, हम तब तक जीवित रहेंगे ही। पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वही (आत्मविज्ञान ही) है॥२७॥

अजर-अमर देवताओं के समीप आकर नीचे धरती पर रहने वाला कौन जराग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा (जो केवल शारीरिक अनित्य) सुखों को देखता हुआ भी अतिदीर्घ जीवन में प्रेम करेगा?॥२८॥

दृष्टः। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामहे इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। जीवितेऽपि तथैव जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वमीशिष्यसि त्वमीशिष्यसे प्रभुः स्याः। कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत्। वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम्॥२७॥

यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्याऽऽत्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः कुः पृथिव्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते। क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम्। अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना तेषु पुत्रादिष्वास्थाऽऽस्थितिस्तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थस्ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्यादित्यर्थः। सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलाभैः प्रलोभ्योऽहम्। किञ्चाप्सरः-प्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाऽभिध्यायन्निरूपयन्यथावदतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत॥२८॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये
महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥२९॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता॥१॥

हे मृत्यु! जिस (मरे हुए जीव) के सम्बन्ध में (मरने के बाद जीव रहता है या नहीं) ऐसा सन्देह करते हैं तथा महान् परलोक के विषय में जो (निश्चित विज्ञान) है, वह हमें बतलावें। यह जो अत्यन्त गहन और दुर्विवेचनीयता को प्राप्त (मेरा) वर है, इससे भिन्न और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता है॥२९॥

॥ इति प्रथमवल्ली समाप्ता॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितं यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्त्यस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो, सांपराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम्। किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टस्तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति॥२९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-
चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये
प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥१॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयावल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे
पुरुषꣳ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य
साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति
धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥२॥

श्रेय (अमृतत्व) भिन्न ही है तथा प्रेय (अभ्युदय) भिन्न ही है। वे दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले होते हुए ही (वर्णाश्रमादि से विशिष्ट) पुरुष को बाँधते हैं। उन दोनों में से श्रेय के ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह (मूढ पुरुष पारमार्थिक प्रयोजन रूप नित्य) पुरुषार्थ से पतित हो जाता है॥१॥

श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए के जैसे) मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को (नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान) बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचार कर पृथक्-पृथक् कर लेता है (इस प्रकार श्रेय-प्रेय का) विवेकी प्रेय की अपेक्षा (अभीष्टतम होने के कारण) श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ पुरुष तो योगक्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है॥२॥

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याऽऽह—

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथाऽन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यां विद्याविद्याभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः। श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते। अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः। ते यद्यप्येकैकपुरुषसम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति। यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यते। कस्मात्? अर्थात्पुरुषार्थात्पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात्प्रच्यवते इत्यर्थः। कोऽसौ? य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत्॥१॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवाऽऽदत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

सत्यं स्वायत्ते तथाऽपि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्याय-
न्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयी
मवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति
ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा
कामा बहवोऽलोलुपन्त॥४॥

हे नचिकेता! (मेरे द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी) उस तूने पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरादि प्रिय रूप भोगों को (उनके अनित्यत्व असारत्व रूप दोषों का) चिन्तन करते हुए त्याग दिया है। जिसमें बहुत मूढ मनुष्य डूब जाते हैं, ऐसे इस धन प्रायः कुत्सित गति को तू प्राप्त नहीं हुआ॥३॥

ये दोनों (प्रकाश और अन्धकार के समान) अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली एवं विपरीत रूप से जानी गयी हैं, इनमें से मैं तुझ नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योंकि (मूर्खों को प्रलोभित करने वाले अप्सरादि) बहुत से भोग भी तुझे लुभा न सके॥४॥

व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्चप्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयः प्रेयः पदार्थौ संपरीत्य सम्यक्परिगम्य मनसाऽऽलोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्त्वात्। कोऽसौ धीरः? यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः; स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षण-निमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते॥२॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृति-लक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान्हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षी-रतिसृष्टवान्परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः॥३॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण महताऽन्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेका-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं-
मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्त-
मोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति
मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

वे (घनीभूत) अविद्या के भीतर रहने वाले अपने आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए, अपने को पण्डित मानने वाले मूढ़ पुरुष (अनेक अनर्थ वाले) कुटिल गति को वैसे ही प्राप्त होते हैं— जैसे अन्धे से ही ले जाये जाते हुए अन्धे महान् अनर्थ को प्राप्त होते हैं॥५॥

धन के मोह से (अन्धे हुए पुत्र-पशु आदि में आसक्त) प्रमाद करने वाले मूर्ख को परलोक का साधन नहीं दीखता है। यही लोक है, परलोक नहीं है ऐसा मानने वाला (पुरुष) बारम्बार मुझ मृत्यु के वश को प्राप्त होता रहता है॥६॥

त्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। के ते? इत्युच्यते—या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञाताऽवगता पण्डितैस्तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धि-प्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्ये इत्य-भिप्रायः॥४॥

ये तु संसारभाजना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत्॥५॥

अत एव मूढत्वान्न सांपरायः प्रतिभाति। संपरेयते इति संपरायः परलोक-स्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः सांपरायः। स च बालमविवेकिनं प्रति न भाति

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा

जो (यह आत्मतत्त्व) बहुतों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता, (दूसरे अभागे मलिन बुद्धि वाले) बहुत से सुनते हुए भी जिसे समझ नहीं पाते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी (अनेकों में से विरला ही) कोई आश्चर्य रूप है, इसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य से उपदेश प्राप्त किया हुआ ज्ञाता पुरुष भी आश्चर्य रूप ही है॥७॥

(कर्ता-अकर्ता, शुद्ध-अशुद्ध ऐसे) अनेक प्रकार से विकल्पित यह आत्मा साधारण बुद्धि वाले पुरुष द्वारा कहे जाने पर अच्छी प्रकार समझा नहीं जा सकता। पर अभेददर्शी आचार्य द्वारा

न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत्। प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाऽऽच्छन्नं सन्तमयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः। प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः॥६॥

यस्तु श्रेयोऽर्थी स सहस्रेषु कश्चिदेवाऽऽत्मविद्भवति त्वद्विधो यस्माच्छ्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः। किंचास्य वक्ताऽप्याश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति। तथा श्रुत्वाऽप्यस्याऽऽत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति। यस्मादाश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन्॥७॥

कस्मात्—

नहि नरेणा मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिनेत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि। न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद्बहुधाऽस्ति नास्ति कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः। कथं पुनः सुविज्ञेय

चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणी-
यान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय
प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो
भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥९॥

उपदेश किये गये इस आत्मतत्त्व में (पूर्वोक्त विकल्प रूप कोई) गति नहीं है, क्योंकि यह सूक्ष्म परिमान वालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है॥८॥

हे प्रियतम! तुम बड़े ही सत्य धैर्य वाले हो, तुम जिस बुद्धि को प्राप्त किये हो, यह तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है; क्योंकि इस यथार्थबोध के लिये (आगम से अनभिज्ञ शुष्क) तार्किक से भिन्न शास्त्र के ज्ञाता आचार्य द्वारा बतलाई गयी यह बुद्धि है। (जिसे मेरे वरदान से तूने प्राप्त किया)। हे नचिकेता! हमें तेरे समान पुत्र या शिष्य प्रश्न करने वाला प्राप्त हो॥९॥

इत्युच्यते— अनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्ते उक्ते आत्मनि गतिरनेकधाऽस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः। अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिरत्रान्याऽवगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात्। ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व-विज्ञानम्। अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिरत्रावशिष्यते। संसारगतिर्वाऽत्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य। अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाऽऽचार्येण प्रोक्ते आत्मन्यगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति। भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यह-मित्याचार्यस्येवेत्यर्थः। एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगमवताऽऽचार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा[ह्य] णीयानणुप्रमाणादपि संपद्यत आत्मा। अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याऽभ्यूहेन केवलेन तर्केण। तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते॥८॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्य-भ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या। तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किंचिदेव कथयति। अत एव च येयमागमप्रसूता मतिरन्ये-नैवाऽऽगमाभिज्ञेनाऽऽचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नचिकेतश्चितोऽ-
ग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभ-
यस्य पारम्। स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

कर्मफल रूप निधि अनित्य है इसे मैं जानता हूँ क्योंकि अनित्य साधनों से (कभी भी) वह नित्य आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जानते हुए भी मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया और उन्हीं अनित्य पदार्थों से मैं (आपेक्षिक) नित्य (स्वर्ग नामक याम्य पद) को प्राप्त हुआ हूँ॥१०॥

हे नचिकेता! भोगों की पराकाष्ठा (अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैवादि) जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञ फल की अनन्तता, अभय की सीमा, स्तुति के योग्य, महती (अणिमादि ऐश्वर्य युक्त) विस्तीर्ण गति तथा अपनी सर्वोत्तम स्थिति को देख कर भी उसे तूने धैर्य से त्याग दिया। अहो! तुम बड़े ही बुद्धिमान् (एवं उत्कृष्ट गुण से सम्पन्न) हो॥११॥

का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते। यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेनाऽऽपः प्राप्तवानसि। सत्याऽवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक्त्वत्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयाद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा। कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा॥९॥

पुनरपि तुष्ट आह—

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यते इति। असावनित्यमनित्य इति जानामि। न हि यस्मादनित्यैरध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानताऽपि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुख-साधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः। तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि॥१०॥

त्वं तु कामस्याऽऽप्तिं समाप्तिम्, अत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्मा-धिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-
शोकौ जहाति॥१२॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यम-
णुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयꣳ हि
लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये॥१३॥

(अतिसूक्ष्म होने के कारण) कठिनता से दीखने वाले (विषय विज्ञान से) छिपे हुए होने से गूढ स्थान में प्रविष्ट, बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले उस पुरातन देव को (चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना रूप) अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जानकर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष शोक को त्याग देता है॥१२॥

मरणधर्मा मनुष्य (मेरे द्वारा बतलाये गये) इस आत्मतत्त्व को सुनकर उसका भलीभाँति मनन कर धर्म से युक्त इस सूक्ष्म आत्मा को देहादि संघात से पृथक् करके प्राप्त कर तथा इस मोदनीय तत्त्व की उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है। मैं तुझ नचिकेता को खुले हुए ब्रह्म भवन वाला (मोक्ष के योग्य) समझता हूँ॥१३॥

अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्। स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्। उरुगायं विस्तीर्णगतिम्। प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्त-मामपि दृष्ट्वा धैर्येण धीरो धीमान्सन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेवाऽऽकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत्संसारभोगजातम्। अहो बतानुत्तमगुणोऽसि॥११॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शमतिसूक्ष्मत्वात्तम्। गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्। गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्। गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसङ्कटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः। अतो दुर्दर्शः। तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगा-धिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो धीमान्हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावाज्जहाति॥१२॥

किंचैतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्यो-पादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेरणुं सूक्ष्ममेतमा-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१४॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि
च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥

जो (शास्त्रीय धर्मानुष्ठान रूप) धर्म से पृथक् तथा अधर्म से पृथक् और इस कार्य-कारण रूप प्रपञ्च से भी पृथक् है तथा जो भूत, भविष्यत् (एवं वर्तमान) से भी पृथक् है, ऐसा आप जिसे देखते हों; वही मुझे बतलाओ॥१४॥

सभी वेद जिसको बतलाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये सभी तपों को कहते हैं एवं जिसकी इच्छा करते हुए (गुरुकुल वासादि कठोर) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ। (जिसे तू जानना चाहता है) ॐ वह पद है॥१५॥

त्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥१३॥

॥ १ आह्निकम् ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः। तथाऽन्यत्राधर्मात्तथाऽन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र। किंचान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्। कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः। यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मह्यम् ॥१४॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया यदेतदोमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥१६॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं
पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥१८॥

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है एवं यह अक्षर ही पर ब्रह्म है, इस अक्षर को ही जानकर (पर या अपर) जिसकी जो इच्छा करता है, उसका वही हो जाता है॥१६॥

(ब्रह्म-प्राप्ति के आलम्बनों में) यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर-आलम्बन है। इसी आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में (परब्रह्म में स्थित हो) महिमान्वित होता है॥१७॥

(चैतन्य स्वभाव के कारण) यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है, यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ और न स्वतः ही अर्थान्तर रूप से बना है। अतः यह आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत (नाशरहित) और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं मरता नहीं है॥१८॥

अत एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति। परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम्॥१६॥

यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्। एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। परस्मिन्ब्रह्मण्यपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः॥१७॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्याऽऽत्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोंकारो निर्दिष्टः, अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योंकारालम्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषयेदमुच्यते—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते॥१९॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तो-

(ऐसे आत्मा को भी, देहमात्र को मैं मानने वाला पुरुष) यदि मारने वाला व्यक्ति आत्मा को मारने का विचार करता है और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ जानता है, तो वे दोनों ही (उस आत्मा को) नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न ही मरता ही है॥१९॥

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर, इस जीव की हृदय रूपी गुफा में (अन्तरात्मरूप से) स्थित है (दृष्टादृष्ट बाह्य विषयों से उपरत) निष्काम पुरुष

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्याने-कविक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्य-स्वभावत्वात्। किंच नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्चाऽऽत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते। अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो, यथा कुम्भादिस्तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव॥१८॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य, श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः॥१९॥

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवाऽऽत्मना नित्येनाऽऽत्मवत्सम्भवति। तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते। तस्मादसावेवाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनाम-

निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीत-
शोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥२०॥
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥२१॥

अपनी इन्द्रियादि के प्रसाद से आत्मा की उक्त महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है॥२०॥

वह अचल होता हुआ भी दूर तक जाता है तथा सोता हुआ भी सभी ओर जाता है, वह मद से युक्त और मद (हर्ष) से रहित है, उस देव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है॥२१॥

रूपवस्तूपाधिकत्वात्। स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः। तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्ग-मक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति। ततो वीतशोको भवति॥२०॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य कस्यचिद्विज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणि-वदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति। करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञान-त्वात्सर्वतो यातीव, यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित इव सन्मनआदिगतिषु तदुपा-धिकत्वाद्दूरं व्रजतीव स चेहैव वर्तते॥२१॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं
विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न
बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२३॥

जो (देवादि अनित्य) शरीरों में शरीररहित तथा नित्य स्वरूप है, उस महान् सर्वव्यापक आत्मा को (यह मैं हूँ इस प्रकार) जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता॥२२॥

यह आत्मा (वेदाध्ययन रूप) प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न (ग्रन्थार्थ) धारण शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह साधक जिसका वरण करता है उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके समक्ष यह आत्मा अपने स्वरूप को अनावृत कर देता है॥२३॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा, तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादि-शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्। महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह-विभुं व्यापिनमात्मानम्। आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्व-प्रदर्शनार्थम्। आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्त्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति। न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः॥२२॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते। यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत इत्येतत्। एवं निष्कामस्याऽऽत्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्य इत्यर्थः। कथं लभ्यः ? इत्युच्यते। तस्याऽऽत्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥२४॥
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता॥२॥

जो (श्रुति-स्मृति से अविहित) पाप कर्मों से नहीं हटा है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जो असमाहित मन वाला है और जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह इसे ब्रह्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता॥२४॥

जिस आत्मा के (सर्वधर्मरक्षक) ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों भात हैं तथा मृत्यु जिसका शाकादि है; वह जहाँ है, उसे कौन (अज्ञानी पुरुष पूर्वोक्त अधिकारी के समान) इस प्रकार जान सकता है॥२५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली समाप्ता॥

किंचान्यत्—

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः। नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः। नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः। समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः। प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्। यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः॥२४॥

यस्त्वनेवंभूतो यस्याऽऽत्मनो ब्रह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्। सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमिवौदनस्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः। वेद विजानाति यत्र स आत्मेति॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥२॥

अथ प्रथमाध्याये तृतीयावल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ
परमे परार्धे(ध्यें)। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं
तितीर्षतां पारं नाचिकेतᳬं शकेमहि॥२॥

इस शरीर में बुद्धि-रूप गुफा के भीतर (देहाश्रित आकाश स्थान की अपेक्षा) उत्कृष्ट पर-ब्रह्म के स्थान में दो प्रवेश किये हुए हैं। अपने कर्मफल को भोगने वाला (संसारी और असंसारी होने के कारण) छाया तथा धूप के समान (परस्पर विलक्षण) हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, वे और पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले भी कहते हैं॥१॥

यजन करने वाले (कर्मी यजमान) के लिये जो सेतु के समान है, उस नाचिकेत अग्नि को तथा संसार से पार जाने वालों का जो अभय, परम आश्रय है, उस अक्षर ब्रह्म को जानने में हम समर्थ होवें॥२॥

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः। विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते, न तु सफले ते यथावन्निर्णीते। तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्यस्येते—

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ। एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन। सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः। लोकेऽस्मिञ्शरीरे। गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ। परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्। परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्ध(ध्यं?)म्। तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते। अतस्तस्मिन्परमे परार्धे (ध्यें?) हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः। तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पञ्चाग्नयो गृहस्थाः। ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः॥१॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किञ्च यच्चाभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः।

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४॥

(कर्म फल भोगने वाले संसारी) आत्मा को रथ का स्वामी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि और संकल्पादि रूप मन को लगाम समझो॥३॥

(रथ कल्पना में कुशल विवेकी पुरुष) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, (उन इन्द्रियों को घोड़े रूप कल्पना करने पर) रूपादि विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रियों एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं॥४॥

परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृतः ऋतं पिबन्ताविति॥२॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते। तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य। सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण। मनः सङ्कल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः॥३॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्विन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान्विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति— "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० ४/३/७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते, नान्यथा स्वभावानतिक्रमात्॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥७॥

किन्तु जो (बुद्धिरूप सारथि रथ-संचालन में) सर्वथा अकुशल (प्रवृत्ति-निवृत्ति के विवेक से रहित है) और जो असंयत चित्त से युक्त है, उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं, जैसे अन्य सारथि के अधीन दुष्ट घोड़े (काबू में नहीं रहते)॥५॥

किन्तु जो (पूर्वोक्त सारथि से विपरीत बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सदा नियन्त्रित मन से युक्त होता है, उसके अधीन (अश्वस्थानीय) इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े (काबू में रहते हैं)॥६॥

परन्तु जो अविज्ञानवान् अनियन्त्रित चित्त और सदा अपवित्र रहने वाला सारथि होता है (ऐसे सारथि के द्वारा) वह रथी उस परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होता है॥७॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति, यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदाऽयुक्तो भवति, तस्याकुशलस्याबुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यान्यशक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति॥५॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्निपुणो विवेकवान्युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः॥६॥

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

यस्त्वविज्ञानवान्भवति। अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव। न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति॥७॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥१०॥

किन्तु जो द्वितीय विज्ञानवान्-सारथि से युक्त संयतचित्त और सदा पवित्र रहने वाला रथी होता है, वह तो उसी पद को प्राप्त करता है जहाँ से फिर (संसार में) उत्पन्न नहीं होता॥८॥

जो मनुष्य विवेक बुद्धि वाले सारथि से युक्त और मन रूपी लगाम को अपने अधीन रखने वाला होता है, वह संसार गति से पार होकर व्यापक परमात्मा के परम पद स्थान को प्राप्त कर लेता है॥९॥

इन्द्रियों की अपेक्षा (उनके आरम्भक भूत सूक्ष्म रूप) विषय श्रेष्ठ हैं, उन विषयों से मन का आरम्भक भूत सूक्ष्म श्रेष्ठ है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि-शब्द-वाच्य निश्चयादि का आरम्भक भूत सूक्ष्म है और ऐसी बुद्धि से महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है॥१०॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्येतत्। युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति। यस्मादाप्तात्पदादप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे॥८॥

किं तत्पदमित्याह—

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः। तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसावाप्नोति विद्वान्॥९॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।

महत्तत्त्व से सूक्ष्मतर (सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत) अव्यक्त (अव्याकृत प्रकृति) है और अव्यक्त से सूक्ष्मतर श्रेष्ठ पुरुष से परे अन्य कुछ भी नहीं है। वही पराकाष्ठा है एवं वही सर्वोत्कृष्ट गति है॥११॥

आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य है (ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि, तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि तेभ्य, इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च। तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः। मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम्। संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिर्बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम्। बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते॥१०॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः। तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात्। ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह— पुरुषान्न परं किंचिदिति। यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं, तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम्। अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः। अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (भ० गी० १५/६) इति स्मृतेः॥११॥

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं, कथं "यस्माद्भूयो न जायत" इति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण। तथा च श्रुतिः— "अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य। एष

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥१२॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥१३॥

यह आत्मा (किसी को आत्म रूप से) प्रकाशित नहीं होता है। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा संस्कृत और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है॥१२॥

विवेकी पुरुष वाणी आदि सभी इन्द्रियों को मन में लीन करे, उस मन का प्रकाश स्वरूप बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को (निर्विशेष, निर्विकार सर्व बुद्धि के साक्षी) शान्त आत्मा में लीन करे॥१३॥

पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माऽविद्यामायाछन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित्। अहो! अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं,यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बंभ्रमीति। तथा च स्मरणं "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गी० ७/२५) इत्यादि। ननुविरुद्धमिदमुच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति'। 'न प्रकाशते' इति च। नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्र्ययाऽग्रमिवाग्र्या तयैकाग्रतयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया। कैः? सूक्ष्मदर्शिभिरिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत्॥१२॥

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी। किम्? वाग्वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि। बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः। तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्ये आत्मनि॥१३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥१५॥

(अरे! अनादि अविद्या में सोये हुए जीवो!) उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अज्ञान निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर (परमात्मतत्त्व को आत्मरूप से) अच्छी प्रकार जानो। जैसे पैनी की हुई छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी पुरुष उस मार्ग को वैसे ही दुष्प्राप्य बतलाते हैं॥१४॥

जो शब्द से रहित, स्पर्श से रहित, रूप तथा रस-हीन, नित्य एवं गन्ध रहित है, अतएव वह अविनाशी है। जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी परे (सर्वभूत साक्षी) और निश्चल है उस आत्मतत्त्व को अपरोक्ष रूप से जानकर जीव (अविद्या, काम और कर्म रूप) मृत्यु के पञ्जे से छूट जाता है॥१५॥

एवं पुरुषे आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत, हे जन्तवः! आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत। कथम्? प्राप्योपगम्य वरान्प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत। न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मातृवत्, अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य। किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते। क्षुरस्य धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया। यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्त्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः॥१४॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते। स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता, तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥१६॥

नचिकेता द्वारा प्राप्त किये तथा मृत्यु से कहे हुए (इस तीन वल्ली वाले उपाख्यान रूप) सनातन विज्ञान को कह और ब्राह्मणों से सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है॥१६॥

सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु, यावदाकाशमिति, ते गन्धादयः सर्वे एव स्थूलत्वादिकारणाः शब्दान्ता यत्र न सन्ति, किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः —

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्। यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्। इतश्च नित्यमनाद्यविद्यमान आदिः कारणमस्य तदिदमनादि। यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते, यथा पृथिव्यादि। इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत। तथाऽनन्तमविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टं, न च तथाऽप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म। उक्तं ह्येष सर्वेषु भूतेष्वित्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते वियुज्यते॥१५॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः —

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं, मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः॥१६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता॥३॥
इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥१॥

जो कोई पुरुष परम गोपनीय ग्रन्थ को पवित्र हो ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल वाला होता है॥१७॥

इति तृतीयवल्ली, प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥

इस प्रकार काठकोपनिषद् प्रथमाध्याय की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा कृत मिताक्षराहिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद्ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद्भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥१७॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥३॥
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-श्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥१॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति
नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥१॥

स्वयंभू (परमेश्वर) ने (शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिये प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियों को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है। अतः (जीव सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए (नदी को उसके प्रवाह के विपरीत दिशा में फेरने के समान) अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई विवेकी पुरुष ही अन्तरात्मा को देख पाता है॥१॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्युक्तम्। कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन तदभावादात्मा न दृश्यते इति तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते। विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खा-नीत्युच्यन्ते। तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते। यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः। कोऽसौ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति। तस्मात्पराङ्पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः। एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येवाऽऽत्मशब्दो रूढो लोके, नान्यस्मिन्। व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दो वर्तते।

"यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥"

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात्। तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः। छन्दसि कालानियमात्। कथं पश्यतीत्युच्यते। आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रि-यजातमशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः। स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति। न हि

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥२॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।
एतद्वै तत्॥३॥

अल्पज्ञ पुरुष बाह्य भोगों के पीछे दौड़ते हैं, इसी से वे (अविद्या, काम, कर्म के समुदाय रूप) मृत्यु के विस्तृत पाश में पड़ जाते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अन्तरात्मा के अमरत्व को निश्चल जानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी की इच्छा नहीं करते, (क्योंकि वे सब परमात्म दर्शन के विरोधी हैं)॥२॥

जिस विज्ञान स्वरूप आत्मा के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, और मैथुन सुखों को विस्पष्ट रूप से सब लोक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में क्या अन्य कोई रह सकता है? (तुझ नचिकेता का पूछा हुआ) वह तत्त्व निश्चयरूप से यही है॥३॥

बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति। किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते। अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः॥१॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च पराक्ष्वेवाविद्योपदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति, बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यन्ते बध्यन्ते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। यत एवमथ तस्माद्धीराः विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० ४/४/२३) इति ध्रुवम्। तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि, प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात्। पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः॥२॥

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः, कथं तदधिगम इति। उच्यते—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्न में प्रतीत होने वाले तथा जाग्रत में दीखने वाले दानों प्रकार के पदार्थों को देखता है। उस महान् और व्यापक आत्मा को (आत्मरूप से) प्रत्यक्ष अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता॥४॥

जो पुरुष इस कर्म फल के भोक्ता और (प्राणादि समुदाय को धारण करने वाले) आत्मा को सान्निध्यमात्र से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के शासक रूप में जानता है। (वह वैसे

येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मिथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः। ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्याऽऽत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति। देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति। न त्वेवम्। देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम्। यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः। न चैतदस्ति। तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना विजानाति लोकः। यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत्। आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते, न किञ्चित्परिशिष्यते, स आत्मा सर्वज्ञः। एतद्वै तत्। किं तद्यन्नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः॥३॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः। तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च। उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽत्मनाऽनुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत्। तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति॥४॥

किञ्च—

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञाना-

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत्॥६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत्॥७॥

विज्ञान के) बाद उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। निश्चय वही यह (आत्मतत्त्व) है॥५॥

जो मुमुक्षु जल आदि भूतों की अपेक्षा पहले उत्पन्न हुए ज्ञान रूप तप से पैदा होने वाले (हिरण्यगर्भ) को भूतों के सहित बुद्धि रूपी गुफा में स्थित हुआ देखता है, वही उस ब्रह्म को देखता है। निश्चय वही यह ब्रह्म है॥६॥

जो सर्वदैवस्वरूपा अदिति हिरण्यगर्भरूप से परब्रह्म से उत्पन्न होती है और बुद्धि रूप गुफा से प्रवेश कर रहने वाली है तथा भूतों के साथ ही उत्पन्न है, (उसी को देखो) निश्चय वही यह तत्त्व है॥७॥

दूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छत्यभयप्राप्तत्वात्। यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम्। यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति पूर्ववत्॥५॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः, स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्। किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः। अजायत, उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत्। य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म॥६॥

किञ्च—

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः

अरणिस्थ अग्नि में ब्रह्म दृष्टि

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्ये-
भिरग्निः। एतद्वै तत्॥८॥

अप्रमत्तैः आज्यादिमद्भिः; ध्यानभावनावद्भिः: योगिभिः वन्द्यः
कर्मिभिः याजकैः स्तुत्यः

प्राण में ब्रह्म दृष्टि

प्राणात्मानं प्राणात्

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन
एतद्वै तत्॥९॥

अग्नि आदि अधिदैव, वागादि अध्यात्म

जैसे गर्भिणी स्त्रियों के (शुद्ध अन्नपानादि से अपने) गर्भ की अच्छी प्रकार रक्षा की जाती है वैसे ही (अधियज्ञ रूप से) जो अग्नि दोनों अरणियों के बीच स्थित है तथा प्रमादशून्य कर्म परायण होम सामग्री से युक्त याजकों और ध्यान भावना युक्त योगियों द्वारा यज्ञ एवं हृदये देश में नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है॥८॥

जहाँ से (नित्य प्रति) सूर्य उदित होता है और जिसमें वह अस्त होता है। उस प्राणात्मा में (स्थिति के समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म) सभी देवता अर्पित हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है॥९॥

किञ्च कोऽपि संक्रामेत्

सम्भवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम्। तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत, उत्पन्नेत्येतत्॥७॥

किञ्च—

ध्यान भावना युक्त योगियों द्वारा

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इतीत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत्। किञ्च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरण-शीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्धविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म॥८॥

किंच—

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति, तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स
मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥१०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥११॥

जो इस (देह इन्द्रिय संघात रूप लोक) में भास रहा है, वही ब्रह्म अन्यत्र (इस देहादि से परे नित्य विज्ञानघन रूप) भी है, तथा जो अन्यत्र है वही इस संघात में है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्मता मरता है॥१०॥

मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्व में नानात्व अणुमात्र कुछ भी नहीं है। जो पुरुष (अविद्या रूप तिमिर दोषदृष्टि को न त्याग कर) इसमें नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है॥११॥

विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले। सोऽपि ब्रह्मैव। तदेतत्सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै तत्॥९॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं, तत्तदुपाधिकत्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्पर-स्माद्ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह—

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं सर्वसंसारधर्मवर्जितं संसारधर्मवदवभासमान-मविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म। यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिमनु विभाव्यमानं नान्यत्। तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन्य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते, स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते। तस्मात्तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः॥१०॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्य-दस्तीति। आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत् ॥१३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।

जो अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष (अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण वाले हृदय कमल के) मध्य में स्थित है उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक समझ कर ज्ञानी पुरुष अपने शरीर रक्षा की इच्छा नहीं करता। निश्चय यही वह ब्रह्मतत्त्व है॥१२॥

यह अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत, भविष्यत् का शासक है यही आज है और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही वह यही ब्रह्मतत्त्व है॥१३॥

जैसे ऊँचे पर्वतीय स्थान में बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में (फैलकर) नष्ट हो

नास्ति किञ्चनाणुमात्रमपि। यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चतीह ब्रह्मणि नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥११॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तः-करणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्। पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति। मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत्॥१२॥

किञ्च—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन "नायमस्तीति चैक" इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च॥१३॥

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु

एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥१५॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता॥१॥ (४)

जाता है, वैसे ही आत्माओं को (प्रत्येक शरीर में) पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हीं को (बारम्बार शरीर भेद को) प्राप्त होता है॥१४॥

जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल (मिलकर) वैसा ही स्वच्छ हो जाता है। हे गौतम! एकत्व आत्मदर्शी पुरुष का आत्मा भी वैसा ही हो जाता है॥१५॥

विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति, एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः॥१४॥

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं कथं भवतीत्युच्यते —

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा, तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य, हे गौतम। तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥१॥(४)

॥ २ आह्निकम्॥

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न
शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत् ॥१॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-
र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥२॥

जन्मादि विकार रहित उस नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा का (पुर के समान होने से यह शरीर रूप) पुर ग्यारह दरवाजों वाला है। ऐसे आत्मा का सम्यक् ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान कर पुरुष शोक नहीं करता है और वह इस शरीर के रहते हुए ही अविद्याकृत काम और कर्म के बन्धनों से सर्वथा जीवन्मुक्त हुआ ही विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है॥१॥

वह गमन कर्ता होने से हंस है, आकाश में सूर्य रूप से चलने के कारण शुचिषत् है। व्यापक होने से वसु है। वायु रूप से आकाश में चलने के कारण अन्तरिक्षसत् है। वेदी (पृथिवी) में स्थित होने से होता (अग्नि) है, कलश में स्थित अतिथि (सोम) है, या अतिथि रूप से घर में आने के कारण वह अतिथि दुरोणसत् कहलाता है। (ऐसे ही वह) मनुष्यों में गमन करने वाला नृषत् कहलाता है। देवताओं में गमनशील वरसत् है। सत् या यज्ञ में जाने से वह ऋतसत्

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो, दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—

पुरं पुरमिव पुरम्। द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम्। पुरं च सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्। तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति। तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादशद्वाराण्यस्य, सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरं, कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य। अवक्रचेतसोऽवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः। यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा। ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्। तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति। तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात्कुतो भयेक्षा। इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः॥१॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा, किं तर्हि सर्वपुरवर्ती। कथम्—

हंसो हन्ति गच्छतीति, शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति। वसुर्वासयति

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥३॥

कहा जाता है। आकाश में चलने से व्योमसत् है। जल में शङ्खादि रूप से रहने के कारण अब्जा और पृथिवी में यवादि रूप से उत्पन्न होने के कारण गोजा कहा गया है। यज्ञान्नरूप से उत्पन्न ऋतजा है और नदी आदि रूप में पर्वतों से उत्पन्न होने के कारण अद्रिजा है। त्रिकालाबाध्य होने से सत्यरूप और सबका कारण होने से महान् है॥२॥

(जो हृदय देश से) प्राण वृत्ति को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर धकेलता है; हृदय कमल में रहने वाले उस सम्भजनीय की सभी देव उपासना करते हैं॥३॥

सर्वानिति। वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होताऽग्निः, ''अग्निर्वै होते'' ति श्रुतेः। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्, ''इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः''(ऋ. सं. २/३/२०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्। अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्। ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति। नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद्वरेषु देवेषु सीदतीति। ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति। व्योमसद्व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति। गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायते इति। ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति। अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति। सर्वात्माऽपि सन्नृतमवितथस्वभाव एव। बृहन्महान्सर्वकारणत्वात्। यदाऽप्यादित्यः एव मन्त्रेणोच्यते, तदाऽप्यस्याऽऽत्मस्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गी (त्यस्येत्यङ्गी) कृतत्वाद्ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः। सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥२॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः। तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विशः इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः। यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥३॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्॥४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥५॥

इस शरीरस्थ देही आत्मा के भ्रष्ट हो जाने पर इस प्रणादि समुदाय में क्या शेष रह जाता है? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता। यही वह ब्रह्म है॥४॥

कोई भी देहधारी मानव न तो प्राण से न अपान से ही जीता है, किन्तु जिसमें ये दोनों अश्रित हैं ऐसे किसी अन्य से ही जीवित रहते हैं॥५॥

किञ्च—

अस्य शरीरस्थस्याऽऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्त्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः। विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति। किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किंचन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिनो विद्रवण इव पुरवासिनां यस्याऽऽत्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः॥४॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तदव्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति। नैतदस्ति—

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति। न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते। स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति। अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षणे आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः॥५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥७॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मि-
माणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

हे गौतम! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गोपनीय सनातन ब्रह्म को अच्छी प्रकार बतलाऊँगा, तथा (ब्रह्म को न जानने से) मरकर आत्मा जैसा होता है वैसा ही मैं बतलाऊँगा॥६॥

(अज्ञानी देहाभिमानी) अपने कर्म और चिन्तन के अनुरूप कितने ही शरीर धारण करने के लिये किसी योनि में चले जाते हैं और कुछ लोग स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं॥७॥

प्राण आदि के सो जाने पर (अविद्या के बल से स्त्री आदि) अपने अपने अभीष्ट पदार्थों की रचना करता हुआ जो यह जागता रहता है वही शुद्ध है वह ब्रह्म है और वही (सभी शास्त्रों

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि। यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु, हे गौतम!॥६॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः। स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति। यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत्। तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। "यथाप्रज्ञं हि संभवाः" (ऐ० आ० २/३/२) इति श्रुत्यन्तरात्॥७॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम्? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो
बहिश्च॥९॥

में) अमृत कहा जाता है। उसमें ही पृथिव्यादि सम्पूर्ण लोक अश्रित हैं। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह ब्रह्म है॥८॥

जैसे एक ही प्रकाशस्वरूप अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न दाह्य पदार्थ के अनुरूप हो जाता है, वैसे ही एक ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा (आकाश के समान अपने अविकारी रूप से उनसे) बारह भी है॥९॥

तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति। तदेवामृतमविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु। किञ्च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य। तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव॥८॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैकत्वविज्ञान-मसकृदुच्यमानमृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयते इति तत्प्रतिपादने आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः। रूपं रूपं प्रति दार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः। प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव। एक एव,तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृतेन [स्व] रूपेणाऽऽकाशवत्॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥१०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥११॥

जैसे एक ही वायु प्राण रूप से इस लोक (देह) में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है॥१०॥

जैसे (अपने प्रकाश से लोक का उपकार करता हुआ) सूर्य सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी अध्यात्मिक पाप दोष तथा अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से होने वाले नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही (भ्रमजन्य) संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धि जन्य अध्यास से) बाहर हो रहता है॥११॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः—

वायुर्यथैक इत्यादि। प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति स-(वेत्यादि स) मानम्॥१०॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति। न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि। यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो

जो एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक विशुद्ध विज्ञान स्वरूप को ही अनेक प्रकार से कर लेता है। अपनी बुद्धि में चैतन्य रूप से अभिव्यक्त उस आत्मदेव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख होता है; अन्य को नहीं॥१२॥

जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी चेतन है और जो अकेला ही (सङ्कल्प मात्र से सांसारिक) अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है, जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि

दोषरूपाणि सन्ति। संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्ताद्दोषवद्विभाव्यन्ते। न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते। तथाऽऽत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन। कुतः ? बाह्यः। रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति॥११॥

किञ्च—

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति। वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते। कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत्। न हि शरीरस्याऽऽधारत्वमात्मनः, आकाशवदमूर्तत्वात्। आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत्। तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात्॥१२॥

किंच—

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्। चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वम-

विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति
धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥१३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं नु
तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥१४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१५॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता॥२॥ (५)

में स्थित चैतन्य आत्मा को देखते है, उन्हीं को नित्य शाश्वत शान्ति मिलती है, औरों को नहीं॥१३॥

उस इस (आत्म विज्ञान) को ही (प्राकृत पुरुषों के) मन वाणी के अविषय, परम सुख विवेकी मानते हैं, उसे मैं कैसे जान सकूँगा। क्या वह (हमारी बुद्धि का विषय होकर) प्रकाशित होता है या नहीं॥१४॥

वहाँ (आत्मस्वरूप ब्रह्म में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा तारे वहाँ प्रकाशित नहीं होते और यह विद्युत् भी नहीं चमकती है तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही यह सब भासता है॥१५॥

॥ इति द्वितीयवल्ली॥

न्येषाम्। किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम्॥१३॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन

प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम्। इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः। किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति॥१४॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम्?—

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्गोचरोऽग्निः। किं बहुना यदिदमादित्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत्। तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति। यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात्॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-
चार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिद्भाष्ये द्वितीयाध्यांये
द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्॥२॥(५)

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयावल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँ-
ल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥१॥

जिसका मूल (व्यापक परमात्मा के परमपदरूप) ऊपर की ओर तथा (देव, नर, तिर्यगादि शरीररूप) शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष अनादि होने से सनातन है। वही (संसार वृक्ष का मूल कारण चैतन्य आत्म-स्वभाव) विशुद्ध ज्योति स्वरूप है। वही ब्रह्म और वही अमृत कहा जाता है। उसी ब्रह्म में सभी लोक (शुक्तिरजत की भाँति) आश्रित हैं उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता, निश्चय यही वह ब्रह्म है॥१॥

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके, यथैवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

ऊर्ध्वमूलः ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। वृक्षश्च व्रश्चनात्। जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तत्तृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो, यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताकृष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः। स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः। सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः। यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। तदेवामृतमविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते, सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम्।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणे एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२॥
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥३॥

यह जो कुछ जगत् है, वह सब प्राणरूप ब्रह्म से प्रकट होकर (नियम से) चेष्टा कर रहा है। वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्र के समान है। (अपने अन्तःकरण की प्रत्येक प्रवृत्ति के साक्षीभूत) इस ब्रह्म को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥२॥

इस (परमेश्वर) के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तप रहा है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु (नियम से) दौड़ता है॥३॥

तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु। तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः। एतद्वै तत्॥१॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत् एवेदं निःसृतमिति; तन्न। यदिदं किञ्च यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते। यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म, तन्महद्भयम्। महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्। वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्। यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते, तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तते इत्युक्तं भवति। ये एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्म, अमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति॥२॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

भयाद्भीत्याऽस्य परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते॥३॥

इह चेदशकद्‌बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातप-
योरिव ब्रह्मलोके॥५॥

यदि इस (जीवित शरीर) में नाश से पूर्व ही (इन सूर्यादि के भय हेतुभूत) ब्रह्म को न जान सका, तो उन जन्म-मरणादिशील लोकों में वह शरीर धारण कर लेता है। (अतः मरने से पूर्व आत्मा को जानकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिये)॥४॥

जैसे दर्पण में (प्रतिबिम्बित अपने मुख को स्पष्ट देखता है) वैसे ही निर्मल बुद्धि में (आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है) तथा जैसे स्वप्न में (जाग्रद्वासना से उद्भूत दृश्य को अस्पष्ट देखता है) वैसे ही पितृलोक में। जैसे जल में, वैसे ही गन्धर्व लोक में भी (अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है, किन्तु) ब्रह्मलोक में तो छाया और प्रकाश की भाँति अत्यन्त स्पष्ट रूप से आत्मदर्शन होता है। (अतः इस मनुष्य लोक में ही आत्मदर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि यह प्राप्त है, ब्रह्मलोक तो दुष्प्राप्य है)॥५॥

तच्चेह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सञ्जानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते। न चेदशकद्बोद्धुं ततोऽनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः। तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः॥४॥

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र। स च दुष्प्रापः। कथमित्युच्यते—

यथाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं, तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः। यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं, तथा पितृलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात्। यथा चाप्स्वविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव, तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः। एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते। छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन्। स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात्। तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः॥५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥६॥
इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥८॥

(अपने कारण के गुण को ग्रहण करने के लिये आकाशादि भूतों से) पृथक्-प्रथक् उत्पन्न होने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियों का आत्मवैलक्षण्यरूप पृथक् भाव को तथा उनके उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विवेकशील पुरुष शोक नहीं करता (क्योंकि नित्य चैतन्य स्वभाव आत्मा का किसी भी अवस्था में व्यभिचार नहीं होता)॥६॥

इन्द्रियों से पर (उत्कृष्ट) मन है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से श्रेष्ठ महत्तत्त्व है और महत्तत्त्व से उत्तम अव्यक्त है॥७॥

अव्यक्त से भी श्रेष्ठ पुरुष है (वह आकाशादि का कारण होने से) व्यापक है (तथा सर्व-संसारधर्मरहित होने से) अलिङ्ग ही है। जिसे आचार्य एवं शास्त्र द्वारा जानकर जीवन्मुक्त हो जाता है और वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है॥८॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां, तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति। आत्मनो नित्यैकस्वभावस्याव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं ''तरति शोकमात्मवित्' (छां० ७/१/३) इति॥६॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो, यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते—

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि। अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम्। पूर्ववदन्यत्। सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि, तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥१०॥

इस प्रत्यगात्मा का रूप दृष्टि में स्थिर नहीं होता। अतः इसे कोई नेत्र से नहीं देख सकता, यह आत्मा तो संकल्पादिरूप मन की नियामिका हृदयस्थ बुद्धि द्वारा मननरूप यथार्थ-दर्शन से प्रकाशित होता है। इस रूप में इसे जो जानते हैं; वे अमर हो जाते हैं॥९॥

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मा में) स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को ही परम गति कहते हैं॥१०॥

सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव, पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति। सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥८॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्। अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्। पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम्। कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते। हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या। मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट्, तया हृदा मनीषाऽविकल्पयित्र्या। मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन। अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः। तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति॥९॥

सा हृन्मनीट्कथं प्राप्यते इति तदर्थो योग उच्यते—

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्य निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि, ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते, अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन सङ्कल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन। बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते, तामाहुः परमां गतिम्॥१०॥

सर्वानर्थ संयोगवियोगलक्षणा

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥११॥ वृद्धि विलय

नित्य यत्नवान्
आत्मा उपलब्धि का साधन आस्तिक भाव
अपूर्णता

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥१२॥

जगत: कारणम् अस्ति। सत्कार्यवाद।

उस अचल इन्द्रिय धारण को ही योगी लोग योग कहते हैं। उस समय (चित्त समाधान के लिए) साधक प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय रूप है अर्थात् प्रमाद छोड़ने से कैवल्य का प्रादुर्भाव और प्रमाद करने से परमार्थ का नाश हो जाता है॥११॥

वह आत्मा न तो वाणी से, न तो मन से, न नेत्र से (और न अन्य इन्द्रियों से ही प्राप्त किया जा सकता है); वह आत्मा है, इस प्रकार कहने वाले (शास्त्रानुसारी श्रद्धालु आस्तिक) पुरुषों से भिन्न नास्तिकों को कैसे वह उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता॥१२॥

तामीदृशीमवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितः स्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा। स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः। अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते। न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते। अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा, तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः॥११॥ वृद्धि अपाय नाश

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके, विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते इदमुच्यते। ब्रह्म

सत्यम्—

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः। तथाऽपि

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति॥१३॥

वह आत्मा है, इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये और तत्त्वरूप से उसे जानना चाहिये (सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वरूप) इन दोनों में से जिसे पहले उसकी अस्ति-भाव से उपलब्धि हुई है, उसी को तत्त्व रूप से भी साक्षात्कार होता है॥१३॥

सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात्। तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति। यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते। बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे। मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत, न त्वेतदस्ति, सत्सदित्येव तु गृह्यते। यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम्। तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यः। कस्मात्? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तित्ववादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते,न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः॥१२॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरमस्तीत्येवाऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः। यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि''ति (छा० ६/१/४) श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति। तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते। तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः। निर्धारणार्था षष्ठी। पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः। पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावो ''नेति नेति'' (बृ० २/३/६) इति ''अस्थूलमनणवह्रस्वम्'' (बृ० ३/८/८) ''अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने'' (तै० २/७/१) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति। आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत्॥१३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥१४॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥१५॥

साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब की सब (प्रारब्ध से भिन्न) जब छूट जाती हैं; उस समय (आत्मसाक्षात्कार से पूर्व अपने को) मरणशील मानने वाला पुरुष अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर से ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है॥१४॥

जिस समय इस वर्तमान जीवन में ही हृदय की अविद्याजन्य सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उस समय मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तों का अनुशासन है (इससे अधिक आदेश नहीं है)॥१५॥

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते, येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो, नाऽऽत्मा॥ "कामः सङ्कल्पः" (बृ० १/५/३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च। अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति, गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः॥१४॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः। अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या। अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्वे वेदान्तानामिति वाक्यशेषः॥१५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मु-

पुरुष के हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से मूर्धा को भेदकर बाहर की ओर निकलने वाली सुषुम्ना नाड़ी है, उसके द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला जीव सूर्य मार्ग से आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। इससे भिन्न विविध गति वाली नाड़ियाँ संसार प्राप्ति के लिये होती हैं॥१६॥

अंगुष्ठ मात्र, अन्तरात्मा सदा जीवों के हृदय में स्थित है उसे धैर्यपूर्वक मूँज से सींक

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते इत्युक्तम् "अत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्युक्तत्वात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० ४/४/६) इति श्रुत्यन्तराच्च। ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो, ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष उच्यते, प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये। किञ्चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च। तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः। तत्र—

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम। तयाऽन्तकाले हृदये आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्। तथा नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम्। "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि० पु० २/८/९७) इति स्मृतेः। ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान्। विष्वङ्नानाविधगतयोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः॥१६॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते।

ञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं
तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥१७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां
योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभू-
द्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥१८॥

की भाँति अपने शरीर से पृथक् करे। (शरीर से पृथक् किये हुए) उस आत्मा को विशुद्ध और अमृतमय समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे॥१७॥

मृत्यु की कही हुई पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता मुक्त हो गया। वह धर्माधर्म रूपी रज से रहित तथा अविद्या एवं काम से छूट गया। जो कोई दूसरा व्यक्ति भी अध्यात्मतत्त्व को इस प्रकार जानेगा; वह भी नचिकेता की भाँति ब्रह्मप्राप्ति द्वारा मृत्यु से छूट जायेगा॥१८॥

मुञ्जादिवेषीकामन्तस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च॥१७॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत्। नचिकेतो वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः। किम्? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम्? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः। न केवलं नचिकेत एवान्योऽपि नचिकेतवदात्मविदध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः। नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण यो वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः॥१८॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिरुच्यते—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवा-
वहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥१९॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः तृतीया वल्ली
समाप्ता॥३॥(६)

इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

पूर्ववत् ॥१९॥

॥ इति तृतीया वल्ली समाप्ता ॥

इस प्रकार काठकोपनिषत् द्वितीयाध्याय की श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि द्वारा कृत मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन। कः? स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः। किञ्च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु। सहैवाऽऽवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै। किंच तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु। अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः। मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहा इत्यर्थः। शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति॥१९॥

इति काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली
समाप्ता॥३॥(६)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

॥ ३ आह्निकम् ॥

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

प्रश्नोपनिषत्

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरिचितशाङ्करभाष्यसमेता

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥१॥

भावः— हे देवताओ! (आपकी कृपा से) हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें। आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें।

त्रिविध ताप की शान्ति हो।

भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिबि का पुत्र सत्यकाम, सूर्य का पौत्र गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु गोत्र में उत्पन्न विदर्भ देश का रहने वाला वैदर्भी, कत्य का प्रपौत्र कबन्धी; ये सब अपर ब्रह्म की उपासना में लगे हुए थे एवं तदनुकूल अनुष्ठान में तत्पर ये सभी ऋषि परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए भगवान् पिप्पलाद के पास इस विचार से गये कि ये ऋषि परब्रह्म के विषय में सब कुछ हमें बतला देंगे। सभी ने हाथ में समिधा ली हुई थी अर्थात् विधिवत् ब्रह्मविद्या के लिए गुरु के निकट गए॥१॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्॥

मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते। ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुतय, एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञ-कल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च। न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति। ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति॥२॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥३॥

इस प्रकार उन आए हुए ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि तुम तपस्या, इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो गुरुशुश्रूषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा॥२॥

एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन कबन्धी ने पिप्पलाद महर्षि के पास जाकर पूछा— 'हे भगवन्! (ब्राह्मणादि) ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं'॥३॥

तत्कर्तव्यता स्यात्। सुकेशा च नामतः। भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः। शैब्यश्च शिबेरपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः। सौर्यायणी सूर्यस्यापत्यं सौर्यस्तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति। गार्ग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः। कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः। भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवः। वैदर्भिविदर्भे भवः। कबन्धी नामतः। कत्य(त?)स्यापत्यं कात्यायनः। विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः युवप्रत्ययः, ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः, किं तत्। यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्यामः इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः। कथम्? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पूजावन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः॥१॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथाऽपीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽऽदरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ। ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत। यदि तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः। अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते। सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति॥२॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान्। हे

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽ-
तप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च
प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥४॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एत-
त्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥५॥

उस कबन्धी (कात्यायन) से उस पिप्पलाद महर्षि ने कहा— प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने (पूर्वकल्पीय ज्ञान का स्मरणरूप) तप किया। उसने पूर्वोक्त तप करके सृष्टि के साधनभूत रयि और प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया। (यह सोचकर कि) ये दोनों ही मेरी नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे॥४॥

निश्चय आदित्य ही प्राण (भोक्ता अग्नि) है और रयि ही चन्द्रमा है। यह सब जो स्थूल और सूक्ष्म है, वह मूर्त्त तथा अमूर्त्त (भोक्ता भोग्य रूप होने पर भी) रयि ही है। अतः मूर्त्ति ही रयि है॥५॥

भगवन्कुतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते। अपरविद्याकर्मणोः समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः॥३॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच। तदपाकरणायाऽऽह। प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्रक्ष्यामीत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत। अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान्। रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारमेतावग्नीषोमावत्रन्नभूतौ मे मम बहुधाऽनेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत्॥४॥

तत्राऽऽदित्यो ह वै प्राणोऽत्ताग्निः। रयिरेव चन्द्रमाः। रयिरेवान्नं सोम एव। तदेतदेकमत्ता चान्नं च प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्। गुणप्रधानकृतो भेदः। कथम्? रयिर्वा अन्नं वा एतत्सर्वं किं तद्यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्रन्नरूपे रयिरेव। तस्मात्प्रविभक्तादमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात्॥५॥

अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते॥६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम्॥ ७॥

जिस समय उदय होकर सूर्य पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उससे वह पूर्व दिशा के प्राणों को (सर्वत्र व्याप्त किरणों में होने के कारण) अपनी किरणों में प्रविष्ट कर लेता है (उन्हें आत्मभूत कर लेता है)। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है तो उससे भी वह उन सबके प्राणों को अपनी किरणों में धारण कर लेता है॥६॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप (होने के कारण) प्राण और अग्नि रूप हो प्रकट होता है। यही बात मन्त्र द्वारा भी कही गयी है॥७॥

तथाऽमूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चाऽऽद्यम्। कथम्—?

अथाऽऽदित्य उदयन्नुद्गच्छन्प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन्यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति। तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान्प्राणान्प्राच्यानन्तर्भूतान्रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयति, आत्मभूतान्करोतीत्यर्थः। तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत्सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान्सर्वदिक्स्थान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते॥६॥

स एषोऽत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स एवात्तोदयत उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन्। तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम्॥७॥

(३) अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमभि-
वापीकूप तडागादि देवतायतनानि च अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

सूर्य - विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योति-
रेकं तपन्तम्। सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

सम्वत्सरादि में प्रजापति आदि की दृष्टि

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं
च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते। ते कर्म
चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरा-
वर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं
प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

सर्वरूप, किरण वाला, ज्ञान से सम्पन्न सम्पूर्ण प्राणों का आश्रय, ज्योति स्वरूप, अद्वितीय और तपते हुए सूर्य को (ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने आत्म स्वरूप से जाना है)। यह सूर्य अनेकों किरणों वाला, अनेकों प्रकार से वर्तमान तथा प्रजाओं के प्राणरूप से उदित होता है॥८॥

सम्वत्सर रूप काल ही प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर (छः-छः मास वाले प्रसिद्ध) दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्त रूप केवल कर्म मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे (मिथुनात्मक प्रजापति के अंश अन्न रूप) चन्द्रलोक पर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनःपुनः (उत्तमाधम योनियों में) आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः ये प्रजा चाहने वाले गृहस्थ ऋषि लोग दक्षिण-मार्गोपलक्षित चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जो पितृयाण है, वही रयि है॥९॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः। कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः। सहस्त्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधाऽनेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नममूर्तिश्च प्राणोऽत्ताऽऽदित्यस्तदेकमेतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजा करिष्यत इति, उच्यते—

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्य-तिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरस्तदनन्यत्वाद्रयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते, तत्कथम्, तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च। द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे याभ्यां

इन्द्रिय जयेन

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥१०॥

तथा इन्द्रिय संयमरूप तप, दृढ़ ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापति तादात्म्यरूप विद्या द्वारा आत्मा को खोज कर उत्तरायण से सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं। निश्चय यही सम्पूर्ण प्राणों का सामान्य आयतन है, यही अमृत है, यही भय रहित है और यही समुच्चय अनुष्ठान करने वालों की परागति है, इससे फिर लौटते नहीं। अतः अविद्वानों के लिए यह निरोध स्थान है। (क्योंकि वे आदित्यमण्डल को भेद कर ऊपर नहीं जा सकते) इस विषय में अग्रिम मन्त्र प्रसिद्ध है॥१०॥

दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान्विदधत्। कथं? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति, क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः। इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं, ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्ते "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ती" (मु० उ० १/२/१०) ति ह्युक्तम्। यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रमिष्टापूर्तकर्मणैते ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितश्चन्द्रः॥९॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेरंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते। केन? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च-प्रजापत्यात्मविषययाऽऽत्मानं प्राणं सूर्यं जगतस्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वाऽऽदित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति। एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमे (ए) तदमृतमविनाशि, अभयमत एव भयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभयवदेतत्परायणं परा गतिर्विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञानवतामेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते, यथेतरे केवलकर्मिण इति। यस्मादेषोऽविदुषां निरोध, आदित्याद्धि निरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति। स हि संवत्सरः कालात्माऽविदुषां निरोधः। तत्तत्रास्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रः॥१०॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः, परे
अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विच-
क्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥ ११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव
रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल
इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥१२॥

काल के रहस्य जानने वाले अन्य विद्वान् इस आदित्य को पाँच (ऋतु रूप) पैरों वाला, सबका पिता, बारह मास रूप आकृतियों वाला पुरीषी (जल वाला) और द्युलोक से ऊपर स्वर्गलोक में स्थित बतलाते हैं। तथा ये अन्य कालज्ञ पुरुष उसी को सर्वज्ञ एवं सात चक्र और उसी छः ऋतु रूप अरे वाले में इस जगत् को विशिष्ट बतलाते हैं॥११॥

मास ही पूर्वोक्त प्रजापति है, उस मास रूप प्रजापति का कृष्ण पक्ष ही रयि है, शुक्ल पक्ष प्राण है। इसलिये ये प्राण उपासक ऋषिगण शुक्ल पक्ष में यज्ञ किया करते हैं, अर्थात् कृष्ण पक्ष को भी वे शुक्ल पक्ष समझते हैं तथा दूसरे ऋषि (शुक्ल पक्ष में) यज्ञ करते हुए भी कृष्ण पक्ष में यज्ञ करते हैं॥१२॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य, तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते। हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना। पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य, तं द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वाऽवयविकरणमस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्परे ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः। पुरीषिणं पुरीषवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः। अथ तमेवान्ये इमं उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि षडरे षड्तुमत्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति। अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति। यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथाऽपि संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिश्चन्द्रादित्यलक्षणोऽपि जगतः कारणम्॥११॥

यस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः स्वावयवे मासे कृत्स्नः परिसमाप्यते। मासो वै प्रजापतिर्यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकस्तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमाः अपरो भागः शुक्लः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽत्ताऽग्निर्यस्मा-

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥१३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥१४॥

निश्चय ही दिन-रात भी प्रजापति है, उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है। जो लोग (मूर्खतावश) दिन में रति स्वरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं वे निश्चय ही प्राण की हानि करते है तथा जो ऋतु काल में रात्रि के समय रति से संयुक्त होते हैं वह उनका ब्रह्मचर्य ही है। (अतः प्रशस्त होने के कारण ऋतु काल में ही रात्रि के समय स्त्री गमन का प्रासंगिक विधान है)॥१३॥

अन्न ही प्रजापति है (उसी से प्रजा का कारण रूप) वह वीर्य होता है और उस वीर्य से ही यह (मनुष्यादि रूप सम्पूर्ण) प्रजा उत्पन्न होती है॥१४॥

च्छुक्लपक्षात्मानं प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिन एत ऋषयः कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्तः शुक्लपक्ष एव कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मादितरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति। इतरे इतरस्मिन्कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि॥१२॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते। अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत्। तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताऽग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत्, प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति। के? ये दिवाऽहनि रत्या रति कारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मैथुनमाचरन्ति मूढाः। यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः। यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमिति। अयमपि प्रासङ्गिको विधिः। प्रकृतं तूच्यते, सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः॥१३॥

एवं क्रमेण परिणम्य तदन्नं वै प्रजापतिः। कथम्? ततस्तस्माद्ध वै रेतो नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते, यत्पृष्टं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति। तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्नासृग्रेतोद्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति निर्णीतम्॥१४॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुन-
मुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां
तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्ममनृतं न माया चेति॥१६॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः॥१॥

इस प्रकार जो भी (कोई गृहस्थ ऋतु काल में रात्रि के समय स्त्री-गमन रूप) प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं, वे (पुत्र और पुत्री रूप) जोड़े को उत्पन्न करते हैं। जिनमें (इष्टादि कर्मानुष्ठान रूप) तप और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें असत्य त्याग रूप सत्य स्थित है, उन्हीं को यह (चन्द्रलोक में स्थित पितृयाण रूप) ब्रह्मलोक प्राप्त होता है॥१५॥

जिन गृहस्थों में कुटिलता (क्रीड़ादि वशात्) अनृत और माया नहीं है, उन्हीं को यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है (ऐसा एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक में ही संभव है। कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से ही उक्त फल मिलता है, केवल कर्म से तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है)॥१६॥

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

तत्तत्रैवं सति ये गृहस्थाः 'ह वै' इति प्रसिद्धिस्मरणार्थौ निपातौ। तत्प्रजापतेर्व्रतमृतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम्। किम्। ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं चोत्पादयन्ते। अदृष्टं च फलमिष्टापूर्त्तदत्तकारिणां तेषामेवैष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि, ब्रह्मचर्यम् ऋतावन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम्। येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव॥१५॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ केषां तेषामित्युच्यते। यथा गृहस्थानामनेकविरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि,तथा न येषु जिह्मम्। यथा च गृहस्थानां क्रीडानर्मादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं,तथा न येषु तत्, तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते। माया नाम बहिरन्यथाऽऽत्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा। मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः। पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति॥१६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः॥१॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्क-
त्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रका-
शयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥१॥

तस्मै स होवाचाऽऽकाशो ह वा एष
देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मन-
श्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति
वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥२॥

उसके बाद पिप्पलाद मुनि से विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा— 'हे भगवन्! (इस शरीर रूप) प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं तथा (उन देवताओं में से) कौन इसे प्रकाशित करते हैं और इन देवों में कौन प्रधान है'॥१॥

तब आचार्य पिप्पलाद ने उस भार्गव से कहा— 'निश्चय आकाश ही वह देव है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सभी कर्मेन्द्रियाँ) मन और चक्षुः (ज्ञानेन्द्रियाँ) वे सभी देव अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस कार्य-कारण-संघात रूप शरीर को स्तम्भ की भाँति आश्रय देकर हम ही स्पष्टरूप से धारण करते हैं'॥२॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम्। तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं चास्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमित्ययं प्रश्न आरभ्यते—

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। हे भगवन्कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते। कतरे बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्रकाशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते। कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरणलक्षणानामिति॥१॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच। आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवीत्येतानि पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि च कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च, ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्धमाना अहंश्रेष्ठतायै, कथं वदन्ति? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादमिव

प्राण के प्राधान्य में दृष्टान्त।

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाह-
मेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य
विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥३॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्य-
थेतरे सर्वं एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने
सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकर-
राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च
प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मन-
श्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥४॥

इस प्रकार अभिमान से युक्त उन देवों के प्रति प्राण ने कहा— तुम लोग मोह को प्राप्त मत होवो, क्योंकि अपने को पाँच भागों में विभक्त कर मैं ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करता हूँ। किन्तु उन देवताओं ने उक्त बात पर विश्वास नहीं किया॥३॥

तब वह प्राण (इन्द्रियों की अश्रद्धा को देखकर) अभिमान पूर्वक मानों ऊपर उठने लगा, उसके ऊपर उठते ही और सभी प्राण ऊपर उठने लगे तथा उसके बैठ जाने पर सभी बैठ गये। जैसे रानी मक्खी के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर उठ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सभी बैठ जाती हैं। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी (प्राण के साथ ही उठने और प्रतिष्ठित होने लगे)। तब से सभी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट होकर मुख्य प्राण की स्तुति करने लगीं॥४॥

स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः। मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः॥२॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान्। मा मैवं मोहमापाद्यथाविवेक-तयाऽभिमानं मा कुरुत, यस्मादहमेवैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः कथमेतदेवमिति॥३॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्दधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति। तस्मिन्नुत्क्रामति

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु-
रेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्त्रं ब्रह्म च॥६॥

वह प्राण अग्नि होकर प्रज्वलित होता है, यह सूर्य (होकर प्रकाशित होता है) और यह मेघ (होकर बरसाता) है। यही इन्द्र (होकर प्रजा का पालन करता है तथा असुरों का वध करता) है। यह वायु है तथा यह देव ही पृथिवी चन्द्रमा (रूप से सबका धारण एवं पोषण करने वाला है) और जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म एवं अमृत है, वह सब कुछ यही है॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही ऋक्, यजुः और साम (तीन प्रकार के मन्त्र), उनसे निष्पन्न यज्ञ तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय ये सब प्राण में ही स्थित हैं॥६॥

सत्यथानन्तरमेवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्ते उच्चक्रमिरे। तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवत्यनुत्क्रामति सति सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन्। तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति। यथाऽयं दृष्टान्तः एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्रद्दधानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति॥४॥

कथम्—

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति। तथैष सूर्यः सन्प्रकाशते। तथैष पर्जन्यः सन्वर्षति। किं च मघवानिन्द्रः सन्प्रजाः पालयति जिघांसत्यसुररक्षांसि। एष वायुरावहप्रवहादिभेदः। किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चामृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना॥५॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम्। तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्रास्तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्त्रं च सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम्॥६॥

प्राण की स्तुति

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥७॥

हविषां प्रापयितृतमः

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥८॥

चक्षुरादीनां देह धारणादि के लिये

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।

हे प्राण! तू ही जन्म लेता है। ये मनुष्यादि सम्पूर्ण प्रजाएँ तुझे ही (चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा) उपहार समर्पण करती हैं क्योंकि जो उन इन्द्रियों के साथ भोक्ता रूप से स्थित है, वह तू ही है॥७॥

देवताओं के लिये तू श्रेष्ठ वह्नितम है। नान्दीमुखादि श्राद्धों में पितरों के लिए प्रथम स्वधा तू है और अथर्वा श्रुति के अनुसार अंगों का रस रूप तू है अर्थात् देह धारणादि के लिये सत्य आचरण रूप तू है॥८॥

हे प्राण! तू परमेश्वर है, तू अपने तेज से (जगत् का संहार करने वाला) रुद्र है और

किंच—

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्प्रतिजायसे प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वं सर्वदेहदेह्याकृतिच्छद्मनैकः प्राणः सर्वात्माऽसीत्यर्थः। तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं हरन्ति। यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम्। भोक्ता हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम्॥७॥

= यस्तत्त्वम् इत्यपि पाठः

किंच—

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां प्रापयितृतमः। पितृणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधाऽन्नं सा देवप्रदानमपेक्ष्य प्रथमा भवति। तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः। किंचर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूतानामथर्वणां तेषामेव 'प्राणो वाऽथर्वा' इति श्रुतेः। चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि॥८॥

किंच—

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत्। स्थितौ च परि-

त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥
व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

(अपने सौम्यरूप से तू ही जगत् का) सर्वतोभावेन संरक्षक है। तू अन्तरिक्ष में सदा गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतियों का अधिपति सूर्य है ॥९॥

हे प्राण! जब तू मेघ होकर बरसता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा सुख को प्राप्त हुए के समान स्थित होती है कि अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा ॥१०॥

हे प्राण! तू (संस्कारकर्ता के अभाव में संस्कार हीन) व्रात्य है। तू आथर्वणों का एकर्षिनामक अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता है तथा विश्व का सत्पति है। आज हम तेरे लिये भक्ष्य देने वाले हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता है ॥११॥

समन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण। त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥९॥

यदा पर्जन्यो भूत्वाऽभिवर्षसि त्वमथ तदाऽन्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः। अथवा प्राण! ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वद-भिवर्षणदर्शनमात्रेण चाऽऽनन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यस्तिष्ठन्ति। कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥१०॥

किंच—

प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः। हे प्राणैकऋषिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाऽग्निः सन्नत्ता सर्वहविषाम्। त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः। साधुर्वा पतिः सत्पतिः। वयं पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः। त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वन्नोऽस्माकम्। अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम्। अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥१२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः॥२॥

तेरा जो स्वरूप (वक्ता की) वाणी में स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मन में व्याप्त है, उसे शान्त करो। तुम उत्क्रमण न करो अर्थात् इस देह को अमंगलमय न बनाओ॥१२॥

इस लोक में यह सब और स्वर्गलोक में देवादि के उपभोगरूप जो कुछ वैभव हैं, वे सब प्राण के ही अधीन हैं। जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है; वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो तथा हमें श्री और प्रज्ञा प्रदान करो॥१३॥

॥ इति द्वितीयः प्रश्नः॥

किं बहुना—

या ते त्वदीया तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वती। या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि संकल्पादि व्यापारेण संतता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेनाशिवां मा कार्षीरित्यर्थः॥१२॥

किं बहुना—

अस्मिल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किंचिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राणः एवेशिता रक्षिता। अतो मातेव पुत्रानस्मान्रक्षस्व पालयस्व। त्वन्निमित्ता हि ब्राह्म्यः क्षात्त्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्वेत्यर्थः। इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम्॥१३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयप्रश्नः॥२॥

प्राण के सर्गादि प्रकार का प्रश्न

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते, कथमायात्यस्मिञ्शरीर, आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते, केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते, कथमध्यात्ममिति ॥ १॥ धारण करता है। अधिभूतं

महर्षि पिप्पलाद का उत्तर

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २॥ कठिन, गम्भीर. इन्द्रियातीत सत्यता के विषय में प्रश्न.

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैत- परस्मात् अक्षरात् सत्यात्

तत्पश्चात् अश्वल के पुत्र कौसल्य ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा— हे भगवन्! यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है और किस व्यापार विशेष से किस शरीर में आता है तथा शरीर में प्रविष्ट अपने को विभक्त कर किस प्रकार स्थित होता है, फिर शरीर से उत्क्रमण क्यों करता है और किस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है॥१॥

उससे आचार्य पिप्पलाद ने कहा— तू प्राणदि के उत्पत्ति विषयक अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछता है फिर भी तू बड़ा ब्रह्मवेत्ता है। अतः मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ॥२॥

आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जैसे लोक में मनुष्य शरीर से छाया उत्पन्न होती

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम् ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वैरुपलब्धमहिमाऽपि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि। भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष यथावधृतः प्राणो जायते। जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेणाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे। किंनिमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः। प्रविष्टश्च शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति। केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमते उत्क्रामति। कथं बाह्यमधिभूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्ममिति धारयतीति शेषः॥१॥

एवं पृष्टस्तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः। प्राण एव तावद्दुर्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्मविदतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु॥२॥ इन्द्रियातीत सत्यता के विषय में प्रश्न

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते। कथमित्यत्र दृष्टान्तः।

अश्वमेध के समान पुण्य नहीं भ्रूणहत्या के समान पाप नहीं॥

स्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रा-
मानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण
इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासि-
काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु

है, वैसे ही इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोजन्य संकल्पादि से इस शरीर में आता है॥३॥

जैसे राजा ही, ''तुम इन ग्रामों में और तुम इन ग्रामों में निवास करो'' इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, वैसे ही यह मुख्य प्राण भी अन्य इन्द्रियों को इनके स्थानों के अनुसार पृथक्-पृथक् नियुक्त करता है॥४॥

यह प्राण गुदा और मूत्रेन्द्रिय में अपान को (मलमूत्र त्याग के लिये नियुक्त करता है) एवं मुख तथा नासिका से निकलता हुआ चक्षु और श्रोत्र में स्वयं सम्राट् रूप से स्थित रहता

यथा लोके एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत्प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुषे आततं समर्पितमित्येतत् छायेव देहे। मनोकृतेन मनःसंकल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतद्वक्ष्यति हि ''पुण्येन पुण्यम्'' (प्र० उ० ३/७) इत्यादि। तदेव ''सक्तः सह कर्मणा'' (बृ० उ० ४/४/६) इति च श्रुत्यन्तरात्। आयात्यागच्छत्यस्मिञ्शरीरे॥३॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधिकृतान्विनियुङ्क्ते। कथम्? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेव यथा दृष्टान्तः। एष मुख्यःप्राण इतरान्प्राणांश्चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक्पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते॥४॥

तत्र विभागः—

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन्। अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते। तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे।

समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति
तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां
शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशा-
खानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

है और मध्य में समान रहता है। यह समान वायु ही खाये-पीये हुये अन्न जल को शरीर में सर्वत्र समभाव से ले जाता है। उसी जठराग्नि से शिरोवर्ती ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं॥५॥

यह जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित है, इस हृदयदेश में एक सौ एक (प्रधान) नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और फिर उन सौ भेदों में से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं। इन सभी नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है॥६॥

मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति। मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्याम्। समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः। एष हि यस्माद्यदेतद्धुतं भुक्तं पीतं चाऽऽत्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनादग्नेरौदर्याद्धृदयदेशं प्राप्तादेताः सप्तसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः॥५॥

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाशे एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा, अत्रास्मिन्हृदये एतदेकशतमेकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनांभवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि। सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति। आसु नाडीषु व्यानो वायुश्चरति। व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात्सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। संधिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्ये उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति॥६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

तथा (उन एक सौ एक नाड़ियों में से सुषुम्ना की ऊर्ध्वगामिनी) एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जाने वाला उदान वायु (जीवात्मा को) शास्त्रोक्त कर्म से देवादि पुण्यलोक को प्राप्त कराता है और शास्त्र निषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पापमय लोक को ले जाता है, एवं पुण्य-पाप दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मो द्वारा उसे मनुष्य लोक में ले जाता है॥७॥

निश्चय आदित्य ही अधिदैवत ब्राह्य प्राण है। यह नेत्रस्थ चाक्षुष इस आध्यात्मिक प्राण पर अनुग्रह करता हुआ प्रकाशित होता है। पृथिवी में जो देवता है, वह पुरुष के अपान वायु को अपने अधीन करके रहता है। इन दोनों के मध्यवर्ती आकाशस्थ वह समान वायु है, एवं इनसे भिन्न व्यापक वायु ही व्यान है॥८॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्ये ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी, तयैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः संचरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति। पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम्, उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते॥७॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युद्गच्छति। एष ह्येनमाध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चक्षुषःआलोकं कुर्वन्नित्यर्थः। तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्यापानमपानवृत्तिमवष्टभ्याऽऽकृष्य वशीकृत्याधः एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तते इत्यर्थः। अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोद्गच्छेत्। यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुराकाश उच्यते मञ्चस्थवत्। स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तते इत्यर्थः। समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात्। सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद्व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तते इत्यभिप्रायः॥८॥

तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥९॥
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥१०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद। न हास्य प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥११॥

लोक प्रसिद्ध सूर्य तेज ही उदान है। अतः जिसकी शारीरिक ऊष्मा शान्त हो जाती है, वह मन में विलीन हुई वागादि इन्द्रियों के सहित देहान्तर को प्राप्त होती है॥९॥

जिसका जैसा चित्त संकल्प करता है, उस संकल्प के सहित वह जीव मुख्य प्राण वृत्ति को प्राप्त होता है तथा वह प्राण उदान वृत्तिरूप तेज से संयुक्त हो भोक्ता जीव के सहित संकल्पानुरूप लोक को प्राप्त कराता है॥१०॥

जो विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त प्राण को इस प्रकार जानता है, उसकी पुत्र-पौत्रादि प्रजा नष्ट नहीं होती और (सायुज्य को प्राप्त हो जाने के कारण) वह अमर हो जाता है। इस विषय में यह मन्त्र है॥११॥

यद्बाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीरे उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः। यस्मात्तेजःस्वभावो बाह्यतेजोनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति। उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः। तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात्। स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। कथम्। सहेन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः॥९॥

मरणकाले यच्चित्तो भवति तेनैष जीवश्चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्य-प्राणवृत्तिमायाति। मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः। तदा हि वदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति। स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्स-हाऽऽत्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपा-पकर्मवशाद्यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति॥१०॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः प्राणं वेद जानाति तस्येदं

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतम-
श्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति॥१२॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

प्राण की (परमात्मा से) उत्पत्ति (मनःसंकल्प से इस शरीर में) आगमन (पायूपस्थादि में) स्थान, पंचवृत्ति भेद के कारण व्यापकता एवं आदित्यादि बाह्य तथा चक्षुरादि आध्यात्मिक रूप से प्राण के भेद को जानकर साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है॥१२॥

॥ इति तृतीयः प्रश्नः ॥

फलमैहिकमामुष्मिकं चोच्यते। न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते छिद्यते। पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतयाऽमृतोऽमरणधर्मा भवति,तदेतस्मिन्नर्थे संक्षेपा-भिधायकः एष श्लोको मन्त्रो भवति॥११॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्याऽऽयतिमागमनं मनोकृतेनास्मिञ्शरीरे,स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु,विभुत्वं च स्वाम्यमेव सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनम्। बाह्यमादित्यादिरूपेणाध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेणावस्थानं विज्ञायैवं प्राणममृतमश्नुते इति। विज्ञायामृतमश्नुते इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम्॥१२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये तृतीयः प्रश्नः॥३॥

॥ १ आह्निकम्॥

अथ चतुर्थः प्रश्नः।

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ।
भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिञ्जाग्रति,
कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति, कस्यैतत्सुखं
भवति, कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

उसके बाद इन पिप्पलाद महर्षि से सूर्य के पौत्र सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा — 'हे भगवन! इस (सिर और हाथ पैर वाले) पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं, कौन इसमें जागती हैं, (जाग्रत् और स्वप्न के व्यापार समाप्त हो जाने पर) किसे यह सुख होता है और किसमें ये सभी इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित होती हैं'॥१॥

॥अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छः प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम्। अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचरमतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते।

तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात्परादक्षरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र चैवापियन्तीत्युक्तं द्वितीये मुण्डके, के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते। कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैवापियन्ति। किं लक्षणं वा तदक्षरमिति। एतद्विवक्षयाऽधुना प्रश्नानुद्भावयति—

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरःपाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति, स्वव्यापारादुपरमन्ते कानिचास्मिञ्जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति। कतरः कार्यकरणलक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति। स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम्। तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन निर्वर्त्यते, किंवा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः। उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति। तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापारादुपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः। मधुनिरसवत्समुद्रं प्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः। ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत्स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥२॥

आचार्य ने उस प्रश्नकर्ता से कहा — 'हे गार्ग्य! जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल सूर्य में ही एकत्रित हो जाती हैं तथा उसी सूर्य के पुनः उदय होने पर वे रश्मियाँ उससे निकलकर फिर सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ और विषय परम देव में अभिन्न हो जाती हैं। अतः उस निद्रा काल में वह (देवदत्तादि रूप पुरुष) न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। इसीलिये लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं ॥२॥

कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः। युक्तैव त्वाशङ्का। यतः संहतानि करणानि स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात्स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चित्संगतिर्न्याय्येति तस्मादाशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम्। अत्र तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोस्तद्विशेषं बुभुत्सोः स को नु स्यादिति कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः। शृणु हे गार्ग्य यत्त्वया पृष्टम्। यथा मरीचयो रश्मयोऽर्कस्याऽऽदित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सर्वा अशेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूप एकी भवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति, मरीचयस्तस्यैवार्कस्य ताः पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति विकीर्यन्ते। यथाऽयं दृष्टान्तः। एवं ह वै तत्सर्वं विषयेन्द्रियादिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादि देवानां मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनस्तस्मिन्स्वप्नकाल एकी भवति, मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति। जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठते। यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह
वा एषोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो, यद्गार्ह-
पत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥
यदुच्छ्‌वासनिश्‍वासावेतावाहुती समं नयतीति स
समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवो-
दानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥४॥

इस (नौ द्वार वाले शरीर रूप) पुर में प्राणाग्नि ही जागते हैं। निश्चय यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान (हृदय कमल के दक्षिण छिद्र द्वारा निकलने के कारण दक्षिण दिशा से सम्बन्ध के कारण) दक्षिणाग्नि है और जो गार्हपत्य से ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन के कारण आहवनीय नामक अग्नि है॥३॥

क्योंकि उच्छ्‌वास और निश्वास— ये अग्निहोत्र की आहुतियों के समान है (देह रक्षा के लिये) इन्हें जो समभाव से सर्वदा चलाता है, वह समान ऋत्विक् है। निश्चय ही मन यजमान है और उदान वायु ही इष्टफल है। वह उदान वायु इस मन नामक यजमान को (स्वप्न व्यापार से भी गिरा कर) नित्य प्रति सुषुप्ति में ब्रह्म के पास ले जाता है॥४॥

मनस्येकीभूतानीव करणव्यापारादुपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन्स्वापकाले एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः॥२॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेष्वस्मिन्पुरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणादिपञ्चवायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति। अग्निसामान्यं ह्याह गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः। कथमित्याह— यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निराहवनीयः प्रणीयते,प्रणयनात्प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः। तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीत इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत आहवनीयस्थानीयः प्राणः। व्यानस्तु हृदयाद्दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिण-दिक्संबन्धादन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः॥३॥

अत्र च होताऽग्निहोत्रस्य यद्यस्मादुच्छ्‌वासनिश्वासावग्निहोत्राहुती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव त्वेतावाहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्निस्थानी-

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देश-दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥५॥

इस (श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरतरूप स्वपन) अवस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। इसने जाग्रद् अवस्था में जिसे देखा है, उसी दृष्ट वस्तु को स्वप्न में पुनः देखता है। प्रत्येक सुनी हुई बातों को फिर सुनता है और दिशा तथा विदिशा में अनुभूत वस्तु को ही पुनः-पुनः अनुभव करता है। (विशेष क्या कहें) इस जन्म में देखे और जन्मान्तर में सुने वैसे ही अनुभूत और अननुभूत, पृथिव्यादि सत् और मृगजलादि असत् सभी प्रकार की वस्तु को देखता है और वह सर्वरूप से मनोदेव स्वप्न को देखता है॥५॥

योऽपि होता चाऽऽहुत्योर्नेतृत्वात्। कोऽसौ स समानः। अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवनमेव। तस्माद्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः। सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत; इति हि वाजसनेयके। अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषूपसंहृत्य बाह्यकरणानि विषयांश्चाग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते। इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः। उदाननिमित्तत्वादिष्टफलप्राप्तेः। कथम्, स उदानो मनआख्यं यजमानं स्वप्नवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति। अतो यागफलस्थानीयःउदानः॥४॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो भवति तावत्सर्वयागफलानुभव एव नाविदुषामिवानर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते। न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वपन्ते प्राणाग्नयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते। समानं हि सर्वप्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेवेयमुपपद्यते। यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति तदाह—

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः।

एतस्मिन्नन्तराल एष देवोऽर्करश्मिवत्स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषयविषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनमनुभवति प्रतिपद्यते।

ननु महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवतीत्युच्यते,स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः। नैष दोषः। क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्ति वा। मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके — "सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४/३/७) इत्यादि। तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव। मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति केचित्। तन्न। श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिस्तेषाम्। यस्मात्स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽप्यामोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः।

"यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० ४/३/३१) "मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति।" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० २/४/१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतो मन्दब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न त्वेकात्मविदाम्। नन्वेवं सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति विशेषणमनर्थकं भवत्यत्रोच्यते। अत्यल्पमिदमुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ० २/१/१७) इत्यन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत, सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भारस्येति चेन्न। तत्रापि पुरीतति नाडीषु शेते इति श्रुतेः पुरीतति नाडीसंबन्धात्तत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव। कथं तर्ह्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति। अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेन्न। अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च। तस्माद्युक्ता स्वप्ने आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम्, श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात्। एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितंमन्यैः।

यथा हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते। एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूतवासनावति कर्मनिमित्तवासनाऽविद्ययाऽन्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते। तस्मात्साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेष्वप्रलीने न मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति॥६॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते॥७॥

जब वह मनोदेव (नाड़ी में रहने वाले पित्त नामक सौर) तेज से सर्वथा अभिभूत हो जाता है तब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता (क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से अवरुद्ध हो चुका है) उसके बाद इस शरीर में (साक्षी चैतन्य से) यह सुख जाना जाता है॥६॥

हे सोम्य! जैसे पक्षी अपने बसेरे वृक्ष की ओर जाते हैं, वैसे ही वह सब परमात्मा में स्थित हो जाता है॥७॥

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते। यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः पुत्रमित्रादिवासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाऽविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते, तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयाऽनुश्रृणोतीव, देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया, तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः। अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः। एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसाऽननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः। सच्च परमार्थोदकादि। असच्च मरीच्युदकादि। किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति॥५॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैर्मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति। यदा मनो दार्वग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति। अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वात्तेजसा। अथ तदैतस्मिञ्शरीरे एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः॥६॥

एतस्मिन्कालेऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति। तेषु शान्तेष्वात्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह —

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाऽऽकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोतं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चा-नन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥८॥

शब्दादि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी और उसकी गंधतन्मात्रा, जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य रूप विषय, श्रोत्र और उसका श्रोतव्य विषय शब्द घ्राण और घ्रातव्य विषय गन्ध त्वगिन्द्रिय और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण तद्ग्राह्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु और विसर्ग जनित मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन योग्य वस्तु, बुद्धि और बोधयितव्य पदार्थ, अहंकार और अहंकार रूप विषय, चित्त और चेतनीय पदार्थ, तेज और प्रकाश्य पदार्थ, (प्रकाशक और प्रकाश के योग्य वस्तु) प्राण और उसके धारण करने योग्य वस्तु (ये सभी आत्मा में विलीन हो जाते हैं)॥८॥

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य प्रियदर्शन! वयांसि पक्षिणो वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति। एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं परे आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते॥७॥

किं तत्सर्वम्—

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणा च पृथिवी मात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च। तेजश्च तेजोमात्रा च। वायुश्च वायुमात्रा च। आकाशश्चाऽऽ-काशमात्रा च। स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः। तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।
स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायम- अज्ञान रहित

यही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला और कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह (सुषुप्ति के समय जगत् के आधारभूत) पर अक्षर आत्मा में सम्यक्‌रूप से स्थित हो जाता है॥९॥

हे सोम्य! (सम्पूर्ण एषणाओं से छूटा हुआ अधिकारी पुरुष) इस तमोहीन, लोहितादि सम्पूर्ण गुणों से रहित, शुभ्र अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वरूप हो

च। श्रोत्रं च श्रोतव्यं च। घ्राणं च घ्रातव्यं च। रसश्च रसयितव्यं च। त्वक्च स्पर्शयितव्यं च। वाक्च वक्तव्यं च। हस्तौ चाऽऽदातव्यं च। उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च। पायुश्च विसर्जयितव्यं च। पादौ च गन्तव्यं च। बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तदर्थाश्चोक्ताः*। मनश्च पूर्वोक्तम्। मन्तव्यं च तद्विषयः। बुद्धिश्च निश्चयात्मिका। बोद्धव्यं च तद्विषयः। अहंकारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहंकर्तव्यं च तद्विषयः। चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम्। चेतयितव्यं च तद्विषयः। तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम्। प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरणजातं पारार्थ्येन संहतं नामरूपात्मकमेतावदेव॥८॥

अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वेनेहानुप्रविष्टम् —

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादीदं तु विजानातीति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः। पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः। स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारशेषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥९॥ शो

तदेकत्वविदः फलमाह —

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते। स यो ह वै तत्सर्वैषणा- अज्ञान विनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम्। अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरीरवर्जितम्। अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम्। यत एवमतः शुभ्रं शुद्धं सर्वविशेषणरहितत्वात्। अक्षरं सत्यं

* 'तथा चोक्तानीति' पाठभेदः

शरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य।
स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि
संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति॥११॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

जाता है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह श्लोक (मन्त्र) है॥१०॥

हे सोम्य! जिस अक्षर में अग्नि आदि समस्त देवों के सहित विज्ञानात्मा प्राण और पृथिव्यादि भूत सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जो जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है॥११॥

पुरुषाख्यम्। अप्राणममनोगोचरं शिवं शान्त सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति। यस्तु सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किंचित्संभवति। पूर्वमविद्ययाऽसर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाऽविद्यापनये सर्वो भवति, तत्तस्मिन्नर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे, तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशाऽऽविशतीत्यर्थः ॥११॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

अथ पञ्चमः प्रश्नः।

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ।

स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमों-
कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन
लोकं जयतीति तस्मै स होवाच॥१॥

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

तदनन्तर इन पिप्पलाद मुनि से शिबि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा—हे भगवन्! मनुष्यों में जो (कोई विरला) पुरुष मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करे, वह किस लोक को जीतता है?॥१॥

उस सत्यकाम से पिप्पलाद ने कहा— हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है, वह निश्चय पर (सत्य अक्षर) ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् उपासक (ओंकार में ब्रह्मचिन्तन रूप) इसी उपाय से पर और अपर ब्रह्म में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है॥२॥

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ।

अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोंकारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—

स यः कश्चिद्ध वै भगवन्मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तदद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तं यावज्जीवमित्येतदोंकारमभिध्यायीताऽऽभिमुख्येन चिन्तयेत्। बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ओंकारे। आत्मप्रत्ययसंतानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थदीपशिखासमोऽभिध्यानशब्दार्थः। सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसंतोषामायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः स एवं यावज्जीवव्रतधारणः। कतमं वावानेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोंकाराभिध्यानेन कतमं स लोकं जयतीति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः॥१॥

एतद्वै सत्यकाम। एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोंकार एवोंकारात्मकमोंकारप्रतीकत्वात्। परं हि ब्रह्म शब्दा-

स सद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्य-लोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥३॥

यदि वह एक मात्रा-विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उससे बोध प्राप्त कर शीघ्र ही पृथिवी लोक में प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक को ले जाती हैं। वहाँ पर वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न होकर अपनी महिमा का अनुभव करता है॥३॥

द्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसाऽवगाहितुमोंकारे तु विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदतीत्यवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात्तथाऽपरं च ब्रह्म। तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः इत्युपचर्यते। तस्मादेवं विद्वानेतेनैवाऽऽत्मप्राप्तिसाधनेनैवोंकाराभिध्यानेनैकतरं परमपरं वाऽन्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोंकारो ब्रह्मणः॥२॥

स यद्यप्योंकारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथाऽप्योंकाराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोंकारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं गच्छति किं तर्हि यद्यप्येवमोंकारमेवैकमात्राविभागज्ञः एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोंकाराभिध्यानेनैव संवेदितः संबोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसंपद्यते। किं, मनुष्यलोकम्। अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां संभवन्ति तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्चः उपनयन्त उपनिगमयन्ति ऋचः। ऋग्वेदरूपा ह्योंकारस्य प्रथमैकमात्राऽभिध्याता तेन। स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्र्यः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति, योगभ्रष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति॥३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूति-मनुभूय पुनरावर्तते॥४॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुष-मभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदर-स्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघना-त्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः॥५॥

यदि वह (अ, उ, इन) दो मात्राओं से विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उस चिन्तन द्वारा मन के साथ एकत्व को प्राप्त करता है, उस समय यजुर्वेद की श्रुतियों द्वारा वह अन्तरिक्ष में स्थित सोमलोक को ले जाया जाता है अर्थात् उक्त श्रुतियाँ सोमलोक संबन्धी जन्म प्राप्त करा देती हैं। तत्पश्चात् सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह पुरुष फिर मनुष्यलोक में लौट आता है॥४॥

परन्तु जो पुरुष त्रिमात्रा विशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से परम पुरुष की उपासना करता है वह (तृतीय मात्रा रूप होकर) तेजोमय सूर्य लोक में स्थित हो जाता है। जैसे सर्प केंचुली से छूट जाता है, वैसे ही वह उपासक निश्चय ही सम्पूर्ण पाप से मुक्त हो जाता है, फिर तो वह साम श्रुतियों के द्वारा ऊपर की ओर ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। इस जीवन से उत्कृष्ट हृदय में स्थित परम पुरुष का दर्शन करता है, इसी विषय में ये दो श्लोक हैं॥५॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोंकारमभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सोमदैवत्ये संपद्यत एकाग्रतयाऽऽत्मभावं गच्छति। स एवं संपन्नो मृतोऽन्तरिक्षमन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः। स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते॥४॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेनोमित्येतेनैवाक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन, प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतमोंकारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोंकारमिति च द्वितीयाऽनेकशः श्रुता बाध्ये-

ऋग्वादि वेद तथा ओंकार से प्राप्त होने वाले लोक का वर्णन।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अकार, उकार और मकार— ये तीनों मात्राएँ भिन्न-भिन्न रहने पर मृत्यु से युक्त हैं। वे मात्राएँ ध्यान की क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं और व परस्पर संबद्ध हैं तथा (विपरीत प्रयोग न किये जाने के कारण ये) अनविप्रयुक्त हैं। इस प्रकार बाह्य जाग्रत् रूप, आभ्यन्तर सुषुप्ति रूप और मध्यम स्वप्न रूप क्रियाओं में ओंकार की उक्त तीन मात्राओं का सम्यक् प्रयोग किये जाने पर विद्वान् पुरुष फिर अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता॥६॥

तान्यथा। यद्यपि तृतीयाभिधानत्वेन करणत्वमुपपद्यते, तथाऽपि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेया "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" इति न्यायेन, स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिव न पुनरावर्तते, किन्तु सूर्ये संपन्नमात्र एव। यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति। एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रारूपैरूर्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम्। स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः। स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानां, तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः। तस्मात्स जीवघनः। स विद्वांस्त्रिमात्रोंकाराभिज्ञ एतस्माज्जीवघनाद्धिरण्यगर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति ध्यायमानः। तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥५॥

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्या ओंकारस्य मात्राः। मृत्युमत्यः, मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः। ता आत्मनो ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः। किंचान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः। अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषये एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः। किं तर्हि विशेषेणैकैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओंकारस्येत्यर्थः। न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते। यस्-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सकलं त्यजेत् ॥ नीति श्लोक. हितोपदेश

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥७॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

साधक ऋग्वेद द्वारा इस मनुष्य उपलक्षित लोक को यजुर्वेद द्वारा सोम से अधिष्ठित अन्तरिक्ष लोक को और सामवेद द्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जिसे विद्वान् लोग ही जानते हैं तथा ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त होता है। जो स्थूल सूक्ष्म प्रपंच से रहित, अजर, अमर, अभय, एवं सबसे परे है। मन्त्र में इति शब्द प्रश्न समाप्ति का द्योतक है॥७॥

॥ इति पञ्चमः प्रश्नः ॥

माञ्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेणोंकारात्मरूपेण दृष्टाः (स) ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ओंकारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा॥६॥

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम्। यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम्। सामभिर्यत्तद्ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्तः एव,नाविद्वांसो वेदयन्ते। तं त्रिविधं लोकमोंकारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान्। तेनैवोंकारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमतः एवाजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमतः एव यस्माज्जराविक्रियादिरहितमतोऽभयम्। यस्मादेवाभयं तस्मात्परं निरतिशयम्। तदप्योंकारेणाऽऽयतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः॥७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

शौर्य से राम जी ने लंका जीता
सौन्दर्य से " " जनक पुरी जीता
शील से " " अयोध्या जीता

16 कृष्ण. चन्द्रमा का 16 कला
चन्द्र वंशी.
12 कला वाला राम.
सूर्य वंश. 12 राशी में चलता है

सोलह कला वाला पुरुष कौन है?

अथ षष्ठः प्रश्नः।

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्य-
नाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत।
षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं
नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति
समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मा-
न्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज।
तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ १॥

(+) नहिं असत्य सम पातक पुञ्जा गिरि सम होंहिं कि कोटिक गुञ्जा.

उसके बाद उन पिप्पलाद मुनि से भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पूछा— हे भगवन्! कौशल देश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर इस प्रश्न को पूछा था कि हे भारद्वाज! तुम सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो? मैंने उस राजकुमार से कहा— मैं इसे नहीं जानता हूँ। यदि मैं इसे जानता होता तो भला सर्वगुण सम्पन्न तुझ शिष्य को क्यों नहीं बतलाता। जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है, वह मूल के सहित सर्वथा सूख जाता है। अतः मैं तुझसे छिपाने के लिए मिथ्या भाषण नहीं कर रहा हूँ। इतना सुनने पर वह राजकुमार चुपचाप रथ में बैठ कर चला गया। (तब से मेरे हृदय में वह ज्ञातव्य रूप से काँटे के समान खटक रहा है) अतः अब मैं उसके विषय में आपसे पूछता हूँ कि वह जानने योग्य षोडशकला पुरुष कहाँ रहता है?॥१॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ, समस्तं जगत्कार्यकारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले संप्रतिष्ठि-(ष्ठ)-तं इत्युक्तम्। सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे (स्थित) संप्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति। न ह्यकारणे कार्यस्य संप्रतिष्ठानमुपपद्यते। उक्तं च— "आत्मन एष प्राणो जायते" इति। जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति (ज्ञान श्रेष्ठ) सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः। अनन्तरं चोक्तं स सर्वज्ञः सर्वो भवतीति। वक्तव्यं च क्व तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति। तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते। वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोत्पादनार्थम्।

हे भगवन्हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो मामुपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा

तस्मै स होवाच इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति॥ २॥

उस सुकेशा से आचार्य पिप्पलाद ने कहा— हे सोम्य! जिस पुरुष में (आगे बताये जाने वाले) इन षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, वह पुरुष इस शरीर के भीतर रहता है। (वह पुरुष कलाहीन होते हुए भी इन उपाधिभूत सोलह कलाओं के कारण कलावान् सा दीखता है। अब विद्या से अविद्या की निवृत्ति करके उसके शुद्ध रूप को दिखलाना है। इसलिए प्राणादि कलाओं का उसी से उत्पन्न होना कहा गया है)॥२॥

इवाऽऽत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन्पुरुषे, सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ विजानासि। तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति। एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्। यदि कथंचिदहमिमं त्वया पृष्टं पुरुषमवेदिषं विदितवानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः। भूयोऽप्यप्रत्ययमिवाऽऽलक्ष्य प्रत्याययितुमब्रुवम्। समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः, स परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यतः एवं जाने, तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं मूढवत्। स राजपुत्रः एवं प्रत्यायितस्तूष्णीं व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान्यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थास्वित्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति॥ १॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इति षोडशकलाभिरुपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकलाध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो दर्शयितव्यः इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते। प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्तेऽविद्याविषयाश्चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते। अत एव भ्रान्ताः केचिदग्निसंयोगाद्घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यमेव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति।

तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्यपरे। घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्याऽऽत्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे। चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः।

अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मैव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। (तै० २/१/१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ५/३) "विज्ञानमान्दं ब्रह्म। "(बृ० ३/९/२८) विज्ञानघन एव" (बृ० २/४/१२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्वरूपव्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तु च भवति, किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।

रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा। व्यभिचरति तु ज्ञेयं ज्ञानं न व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्। ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्। सुषुप्तेऽदर्शनाज्ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेन्न। ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्याऽऽलोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात्स्वव्यङ्ग्याभावे आलोकाभावानुपपत्तिवत्सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः।

न ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं वैनाशिकेन। वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति चेद्येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन।

तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः। ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेन्न। अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युपगम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव, न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य। न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किंचिन्नश्छिन्नम्।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सञ्ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेन्न तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेन्न। शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः। ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निव्यतिरिक्तोऽग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते, ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेन्न। सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात्। वैनाशिकैर-

भ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वं, तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेन्न। भेदस्य सिद्धत्वात्। सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषस्य ज्ञानस्याभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेय-ज्ञानयोरन्यत्वम्।

न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि। ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न। तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य। यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषये इत्यनवस्थानुपपत्तिः।

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत्सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निर्वहणेनास्माकमनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमादवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्।

स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थाऽनिवार्या। समान एवायं दोष इति चेन्न। ज्ञान-स्यैकत्वोपपत्तेः। सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदा-त्सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासत इति। नासौ दोषः चेहेदमुच्यते।

ननु श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति न। प्राणादिकला-कारणत्वात्। न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात्। कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य। न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डं बदरमिवाभ्यन्तरी कुर्यात्, बीजादिवत्स्यादिति चेत्।

यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्रादि तद्वत्पुरुषमभ्यन्तरी कुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेन्न। अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च। दृष्टान्ते कारणबीजाद्वृक्षफलसंवृत्तान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते।

बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः सावयवाश्च कलाः शरीरं च, एतेनाऽऽकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं किमुताऽऽकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः। किं दृष्टान्तेन, वचनात्स्यादिति चेन्न। वचनस्याकारकत्वात्। न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते। किं तर्हि यथाभूतार्थावद्योतने। तस्मादन्तः-शरीर इत्येतद्वचनमण्डस्यान्तर्व्योमेतिवच्च द्रष्टव्यम्।उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च दर्शनश्रवणमनन-

ईक्षण पूर्वक जगत् की सृष्टि

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥३॥

उस षोडश कला पुरुष ने ईक्षण (विचार) किया कि किस विशेष कर्ता के उत्क्रमण करने पर मैं भी शरीर से उत्क्रमण कर जाऊँगा। वैसे ही शरीर में किसके स्थित रहने पर मैं भी स्थित रहूँगा॥३॥

विज्ञानादिलिङ्गैरन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चातः उच्यतेऽन्तः-शरीरे सोम्य स पुरुष इति। न पुनराकाशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न इति मनसाऽपीच्छति वक्तुं मूढोऽपि, किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः॥२॥

यस्मिन्नेता षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—

चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भारद्वाजेन, स ईक्षांचक्रे ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः सृष्टिफलक्रमादिविषयम्। कथमित्युच्यते, कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्याम्यहमेव (वं) कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः।

नन्वात्माऽकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण, तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येणेक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनं सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने* कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च। न हि चेतनावान्बुद्धि-पूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात्।

तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेनेक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्तमानेऽचेतने प्रधाने चेतन-वदुपचारोऽयं स ईक्षांचक्रे इत्यादिः। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत्। न, आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः। यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात्।

तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तो न चिन्मात्रस्वरूप-विक्रियाऽतः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय। भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्व-दोषप्रसङ्ग इति चेन्न। एकस्याप्यात्मनोऽविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषा-

* प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनो ह्येकत्वेन

भ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यते, आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवमिष्यते, न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च स्यादद्वैतत्वात्सर्वभावानाम्। सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितमेव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वाऽऽगमबाह्यत्वात्पुनस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते।

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैरित्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनातः आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शित्वात्परमार्थतत्त्वाद्दूरमेवापकृष्यन्तेऽतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किंचिदुच्यतेऽस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण।

तथैतदत्रोक्तम्—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम्।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्"॥

किंच भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः। का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया, यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते, न कर्ता, प्रधानं तु कर्त्रेव, न भोक्त्रिति।

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तरपरिणामेन। प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः। नासौ विशेषो, वाङ्मात्रत्वात्, प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठते इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेषः इति वाङ्मात्रेण प्रधानपुरुषयोर्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेन्न, तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेन्न। प्रधान-

स्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वमिति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेन्न। प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः। न हि भोक्त्रोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतरेतरप्रकाशने। भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेन्न। पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात्।

भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति, सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य, कस्यापनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयते? विद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव, न कर्ता प्रधानं कर्त्रेव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं कल्पनाऽऽगमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नाऽऽदर्तव्या मुमुक्षुभिः।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेन्नाभावात्। सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात्। न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति, तदभावे एवं विकल्पनैवानुपपन्ना। अभ्युपगते आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता। तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रं "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २/४/१४) इत्यादि। शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाऽऽहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये, "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० २/४/१४) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके।

अत्र च विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्यातो न तार्किकवादभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्ते इहात्मैकत्वविषये इति। एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च।

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि कर्तर्युपचाराद्राजा कर्तेति सोऽत्रानुपपन्नः। स ईक्षांचक्रे इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाधनात्प्रमाणभूतायाः। तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य, यत्र मुख्यार्थो न संभवति। इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालनिमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। यथोक्तसर्वज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना॥३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च॥४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की, पुनः प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को बनाया, एवं अन्न से वीर्य रूप बल, (अन्तःकरण शुद्धि के साधन) तप, तप के साधन ऋगादि मन्त्र, अग्निहोत्रादि कर्म और कर्म के फलस्वरूप लोक, को तथा लोकों में प्राणियों के देवदत्तादि नाम को उत्पन्न किया॥४॥

जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँच कर लीन हो जाती

ईश्वरेणैव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते। कथं? स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा सर्वप्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान्। अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम्। ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत। खं शब्दगुणम्। वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम्। तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं, शब्दस्पर्शाभ्याम्। तथाऽऽपो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन चतुर्गुणाः। तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी। तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्यम्। तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसंकल्पलक्षणं मनः। एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं व्रीहियवादिलक्षणमन्नम्। ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम्। तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं संकीर्यमाणानां, मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः। ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। ततो लोकाः कर्मणां फलम्। तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि। एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टास्तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम्॥४॥

कथम्—

स दृष्टान्तः। यथा लोके इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं

प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश-कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते. स एषो-ऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

मरण दुःख की निवृत्ति में ब्रह्म ज्ञान का उपयोग

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं

हैं अर्थात् उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'समुद्र'— ऐसा कह कर ही पुकारी जाती हैं, इसी प्रकार सर्व द्रष्टा की सर्वाधिष्ठान पुरुष में लीन होने वाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर लीन हो जाती हैं। उन कलाओं के नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं। ऐसा जानने वाला वह विद्वान् भी कलाहीन और अमर हो जाता है। इसी संबन्ध में यह अग्रिम श्लोक प्रसिद्ध है॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही जिसमें उक्त सब कलाएँ स्थित रहती हैं (अर्थात् उनकी उत्पत्ति स्थिति और लायका एक मात्र आधार वह पुरुष ही है) इस ज्ञातव्य

गतिरात्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति। तासां चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे। तद्भेदे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणमेवं यथाऽयं दृष्टान्तः। उक्त लक्षणस्य प्रकृतस्यास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद्द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथाऽर्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता सर्वतस्तद्वदिमाः षोडश कलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं गच्छन्ति। भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम्। भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः। य एवं विद्वान्गुरुणा प्रदर्शितकलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्मजनितासु प्राणादिकलास्वकलोऽविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युस्तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति, तदेतस्मिन्नर्थे एष श्लोकः ॥५॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथाप्रवेशितास्तदाश्रया भवन्ति यथा तथेत्यर्थः। कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु

पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परम-
स्तीति॥७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः
परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः।
परमऋषिभ्यः॥८॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः॥६॥

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

पुरुष को तुम जानो। हे शिष्य! जैसे तुम्हें मृत्यु सब ओर से व्यथित न करे, उसका साधन एक मात्र कलाओं के अधिष्ठान तत्त्व का अवबोध ही है॥६॥

उन शिष्यों को (इस प्रकार उपदेश देकर पिप्पलाद मुनि ने) उनसे कहा— उस ज्ञातव्य परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है॥७॥

तब (गुरु से उपदेश पाये हुए) उन शिष्यों ने विद्यादान की अन्य कोई प्रतिक्रिया न देखकर उनकी पूजा करते हुए कहा कि आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने (विद्यारूप नौका के द्वारा) हमें अविद्या और उसके कार्य से पार कर दिया है। अतः आप परमर्षि को हमारा बार-बार नमस्कार है। इस मन्त्र में द्विरुक्ति आदर दिखलाने के लिये है॥८॥

॥ इति षष्ठः प्रश्नः ॥

इस प्रकार अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषत् की श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि द्वारा कृत मिताक्षराहिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात्पुरुषं पुरि शयनाद्वा वेद जानीयात्। यथा हे शिष्या मा वो युष्मान्मृत्युः परिव्यथा मा परिव्यथयतु। न चेद्विज्ञायेत पुरुषो मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ। अतस्तन्मा भूद्युष्माकमित्यभिप्रायः॥६॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यांस्तान्होवाच पिप्पलादः किलैतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद

विजानाम्यहमेतत्। नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवाञ्शिष्याणामविदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये,कृतार्थबुद्धिजननार्थं च॥७॥

ततस्ते शिष्या गुरुणाऽनुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलि प्रकिरणेन प्रणिपातेन च शिरसा, किम्, ऊचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याभयस्य। यस्त्वमेवास्माकमविद्याया विपरीतज्ञानाज्जन्मजरामरणरोगदुःखादिग्रहादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयस्यस्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान्प्रत्युपपन्नमितरस्मात्। इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति, तथाऽपि स प्रपूज्यतमो लोके, किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः। नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम्॥८॥ जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥

इति प्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः॥६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्कृतं प्रश्नोपनिषद्भाष्यं समाप्तिमगमत्॥

मुण्डकोपनिषद्

॥ २ आह्निकम्॥

उपक्रमः- अथ परा यया तदक्षरं अधिगम्यते यत्तदद्रेश्यं 1-1-5-6.
उपसंहारः- स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद. 3-2-9.
अभ्यासः (a) आविः सन्निहितं गुहाचरं 2-2-1
(b) तदेतदक्षरं ब्रह्म 2-2-2.
अपूर्वता :- न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा. 3-1-8.
फलं:- भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः 2-2-8.
यथा नद्यः स्यन्दमानाः 3-2-8.
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति. 3-2-9.
अर्थवादः- यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्च
कामान् तं तं लोकं जयते. 3-1-10.
उपपत्तिः- यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते
स्वरूपाः तथा अक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते 2-1-1

अथर्ववेदीय मन्त्र भागोपनिषद्. अयमात्मा ब्रह्म :

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

मुण्डकोपनिषत्।

भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

यजनीया : देवा :

आत्म कल्याण कारक

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नःपूषा विश्ववेदाः। यशस्वी.
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

हे देवताओं! आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्द सुनें। आँखों के द्वारा कल्याण प्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म करने में हम समर्थ होवें। दृढ अंगों और शरीरों से स्तुति करते हुए हम लोग केवल देवहित याग के लिये संपूर्ण आयु व्यतीत करें।

महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानी पूषादेव हमारा कल्याण करें। संपूर्ण आपत्तियों के नाश करने में चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें। तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध तापो की शांति होवे। ⊕ कर्म रक्तबीजवत् है। सो ज्ञान से ही मुक्ति.

॥ अथ श्रीमच्छङ्करभगत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्॥

ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत्। अस्याश्च विद्यासंप्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षण-संबन्धमादावेवाऽऽह स्वयमेव स्तुत्यर्थम्। एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणाऽऽयासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति। स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः प्रवर्तेरन्निति। प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसंबन्धमुत्तरत्र वक्ष्यति— "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मु० २/२/८) इत्यादिना। अत्र चापरशब्दवाच्याया-मृग्वेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकमविद्यायामन्तरे वर्तमाना इत्यादिना। तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह-परीक्ष्यलोकानित्यादिना। प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति'

अथ प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं में (ज्ञान वैराग्यादि के कारण बढ़ा हुआ) ब्रह्मा पहले स्वयं उत्पन्न हुआ। वह विश्व का रचयिता तथा सम्पूर्ण भुवन का पालन करने वाला था। इसने समस्त विद्याओं की अश्रायभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया॥१॥

(मु० ३/२/९)। ''परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे'' (मु० ३/२/६) इति च। ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारस्तथाऽपि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति भैक्ष्यचर्यां चरन्तः संन्यासयोगादिति च ब्रुवन्दर्शयति। विद्याकर्मविरोधाच्च। न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि संपादयितुं शक्यम्। विद्यायाः कालविशेषाभावादनियतनिमित्तत्वात्कालसंकोचानुपपत्तिः। यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते। न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्वसंभवः शक्यते कर्तुं, किमुत लिङ्गैः केवलैरिति। एवमुक्तसंबन्धप्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरणमारभ्यते। य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्। उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।

ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत इति। देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन्प्रथमोऽग्रे वा संबभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः। न तथा यथा धर्माधर्मवशात्संसारिणोऽन्ये जायन्ते। ''योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः'' (मनु० १/७) इत्यादिस्मृतेः। विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता। भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये। स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्याम् 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' (मु० १/२/१३) इति विशेषणात्परमात्मविषया हि सा। ब्रह्मणा वाऽग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या। तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः। सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति। ''येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'' (छा० ६/१/३) इति श्रुतेः। सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राहोक्तवान्॥१॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥२॥
शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥३॥

जिस विद्या का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीन काल में अथर्वा ने अंगी नामक मुनि को किया और अंगी ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्य-वह नामक मुनि से कहा तथा भरद्वाज पुत्र सत्यवह ने शिष्य एवं पुत्र परंपरा से आई हुई उस विद्या को अंगिरा से कहा॥२॥

शुनक के पुत्र प्रसिद्ध महागृस्थ शौनक ने भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरा के पास विधि पूर्वक जाकर पूछा भगवन्! किस वस्तु के जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थ जान लिया जाता है? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता॥३॥

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदद्ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवा-चोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम्। स चाङ्गिर्भारद्वाजाय भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान्। भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्-परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परावरसर्वविद्याविषयव्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः॥२॥

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधि-वद्यथाशास्त्रमित्येतत्। उपसन्न उपगतः सन्पप्रच्छ पृष्टवान्। शौनकाङ्गिरसोः संबन्धा-दर्वाग्विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते। मर्यादाकरणार्थं मध्यदी-पिकान्यायार्थं वा विशेषणम्। अस्मदादिष्वप्युपसदनविधेरिष्टत्वात्। किमित्याहकस्मिन्नु भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के भगवो हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीत्येकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्निति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ। सन्ति लोके सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः। तथा किंन्वस्ति सर्वस्य जगद्भेदस्यैकं कारणम्। यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। नन्वविदिते हि कस्मिन्निति प्रश्नोऽनुपपन्नः। किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो युक्तः। सिद्धे

तस्मै स होवाच। द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥५॥

उस शौनक से अंगिरा ने कहा, कि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है, जानने योग्य विद्याएँ दो ही हैं। एक परा ओर दूसरी अपरा। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उनके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा कहते हैं॥४॥

उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये सांग चतुर्वेद अपरा विद्या है और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है॥५॥

ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात्। यथा कस्मिन्निधेयमिति। न। अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः संभवत्येव कस्मिन्विज्ञाते सर्ववित्स्यादिति॥३॥

तस्मै शौनकायाङ्गिरा ह किलोवाच। किमित्युच्यते। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति। एवं ह स्म किल यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति। के ते इत्याह। परा च परमात्मविद्या। अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया। ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्भवतीति शौनकेन पृष्टं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादि। नैष दोषः। क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य। अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या। तद्विषये हि विदिते न किंचित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति। निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात्॥४॥

तत्र काऽपरेत्युच्यते। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या। अथेदानीमियं परा विद्योच्यते, यया तद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते। अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात्। न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति। अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्। ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च। या

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥६॥

वह जो अदृश्य (इन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से रहित है, ऐसे ही पाणिपाद से रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं॥६॥

वेदबाह्याः स्मृतय इति हि स्मरन्ति। कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात्। उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात्। ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम्। अथ परेति। न। वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः। वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः। शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः संभवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति॥५॥

यथा विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्त्यग्निहोत्रादिलक्षणो, न तथेह परविद्याविषये। वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति। केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठाव्यतिरिक्ताभावात्। तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेनाक्षरेण विशिनष्टि यत्तदद्रेश्यमित्यादिना। वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते-यत्तदिति। अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत्। दृशेर्बहिष्प्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत्। अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम्। अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः। न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात्। वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा। अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम्। अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम्। यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिचेतनावत्त्वविशेषणत्वात्प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः करणैरर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुःश्रोत्रमिति वार्यते। "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० ३/१९) इत्यादिदर्शनात्। किंच तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत्। यत एवमग्राह्यमग्राहकं चातो नित्यमविनाशि। विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुम्। सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं शब्दादिस्थूलत्वकारणरहितत्वात्। शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात्सुसूक्ष्मम्। किंच तदव्ययमुक्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम्। न ह्यनङ्गस्य स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः संभवति

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।

जैसे लोक प्रसिद्ध मकड़ी (अन्य साधनों के बिना ही अपने शरीर से अभिन्न) तन्तुओं को बनाती है और निगल जाती है। जैसे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा जैसे सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं॥७॥

(पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा वाले पिता के समान ज्ञान रूप) तप द्वारा वह अक्षर ब्रह्म कुछ स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् उसी ब्रह्म से (सभी प्राणियों के लिये साधारण

शरीरस्येव। नापि कोशापचयलक्षणो व्ययः संभवति राज्ञ इव। नापि गुणद्वारको व्ययः संभवत्यगुणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च। यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं पृथिवीव स्थावर-जङ्गमानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्मभूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीरा धीमन्तो विवेकिनः। ईदृशमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः॥६॥

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तं तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्धदृष्टान्तैः। यथा लोके प्रसिद्धम्। ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किंचित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीरा-व्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवाऽऽपादयति। यथा च पृथिव्यामोषधयो व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः। स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च संभवन्ति विलक्षणानि। यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्त-लक्षणादक्षरात्संभवति समुत्पद्यते इह संसारमण्डले विश्वं समस्तं जगत्। अनेकदृष्टान्तो-पादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम्॥७॥

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते। तपसा ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण। एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात्ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेणाभिजायत उत्पद्यते। ततश्चाव्याकृताद्व्याचिकीर्षितावस्थावतोऽन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रिया-

अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदि प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

कारण रूप अव्याकृत) अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से हिरण्यगर्भ रूप प्राण, संकल्पादि चतुष्टय व्यापार रूप मन, मन से भूतपंचक, उससे भूरादि लोक, उनमें मनुष्यादि के अनुरूप कर्म और कर्म से अमृत नामक कर्मजन्य फल उत्पन्न होता है॥८॥

सबको सामान्य रूप से जो जानता है इसलिये सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है और जिसका ज्ञानमय तप है उस अक्षर ब्रह्म से ही हिरण्यगर्भ रूप देव-सत्तादिनाम् शुक्लादि रूप और व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न होता है॥९॥

॥ इति प्रथममुण्डके प्रथमखण्डः ॥

शक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माऽभिजायत इत्यनुषङ्गः। तस्माच्च प्राणान्मनो मनआख्यं संकल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते। ततोऽपि संकल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यमाकाशादिभूतपञ्चकमभिजायते। तस्मात्सत्याख्याद्भूतपञ्चकादण्डक्रमेण सप्त लोका भूरादयः। तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि। कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम्। यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति तावत्फलं न विनश्यतीत्यमृतम्॥८॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह-य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानातीतिसर्वज्ञः। विशेषेण सर्ववेत्तीति सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नाऽऽयासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात्सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते। किंच नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम्। रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि। अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते। पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्यः॥९॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

कर्म निरूपण

अथ प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां वहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं
सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

अग्निहोत्र का निरूपण

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।

मेधावी (वशिष्ठादि) ऋषियों ने जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को ऋग्वेदादि मंत्रों में देखा था वही यह सत्य है। उन्हीं कर्मों का हौत्र, आध्वर्यहोत्र और औद्गात्ररूप त्रेता में अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। यथार्थ कर्म फल की कामना से युक्त होकर उनका आचरण करो। लोक में तुम्हारे लिये विहित अग्निहोत्रादि कर्मों के फल प्राप्ति का यही मार्ग है॥१॥

जिस समय ईंधन द्वारा सम्यक् प्रकार से अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसकी ज्वाला

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता-ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना। यत्तदद्रेश्यमित्यादिना नामरूपमन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तलक्षणमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यत इति परा विद्या सविशेषणोक्ता। अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसंबन्ध-स्तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति। पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः। तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः। तथाच वक्ष्यति— "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्" (मु० १/२/१२) इत्यादिना। न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह तदेतत्सत्यमवितथम्। किं तन्मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माण्यग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः। यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्तानि च वेदविहिता-न्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां त्रयीसंयोगलक्षणायां हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रकारायामधिकरण-भूतायां बहुधा बहुप्रकारं संततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तान्यतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयथ नियतं नित्यं,सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः। एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्यते। तदर्थं तत्प्राप्तये एष मार्ग इत्यर्थः। यान्येतान्यग्निहोत्रा-दीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि,तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः॥१॥

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते,सर्वकर्मणां प्राथम्यात्। तत्कथम्।

तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

विधि रहित कर्म का परिणाम

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्र-
यणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमवि-
धिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३ ॥

नवीन अन्न से P.T.O.

उठने लगे, उस समय (अग्नये स्वाहा तथा सोमाय स्वाहा, इन मन्त्रों से) दिये गये आज्य भागों के मध्य में आहुतियाँ डाले॥२॥

जिस अग्निहोतृ का अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य और (शरदादि ऋतुओं में नवीन अन्न से किये जाने वाले) आग्रयण, इन कर्मों से रहित नित्य अतिथि पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले अग्नि होत्रादि और बलिवैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया जाता है, वह कर्म (केवल परिश्रममात्र फलवाला होने के कारण) उस कर्ता की सात पीढ़ियों या सात लोकों का नाश कर देता है॥३॥

यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्ये आवापस्थाने आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य। अनेकाहप्रयोगापेक्षयाऽऽहुतीरीति बहुवचनम्। एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम्। विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति॥२॥

कथं?यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम्। अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाद्दर्शस्य। अग्निहोत्रसंबन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति तदक्रियमाणमित्येतत्। तथाऽपौर्णमासमित्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम्। अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्टत्वादपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम्। अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम्। अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते यस्य। तथाऽतिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम्। अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेवकर्मवर्जितं हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतत्। एवं दुःसंपादितमसँपादितमग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यत आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीवाऽऽयासमात्रफलत्वात्। सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते। ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या
च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च
देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहु-
तयो ह्याददायन्। तं नयन्त्येताः सूर्यस्य
रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥५॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्व रुचिदेवी, ये उस अग्नि की (आहुतियों के ग्रसने के लिए) लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं॥४॥

जो अग्निहोत्री पुरुष इन दीप्तिमान् अग्नि शिखाओं में यथासमय आहुतियाँ डालता हुआ अग्निहोत्रादि कर्म का आचरण करता है उस यजमान को ये (इसकी दी हुई आहुतियाँ) सूर्य की किरणों में होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी इन्द्र रहता है॥५॥

इवाऽऽयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते। पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा संबध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः, पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्निहोत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते॥३॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताःसप्त जिह्वाः॥४॥

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरते कर्माऽऽचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु यथाकालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमानमाददायन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः। यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः सर्वानुपर्यधिवसतीत्यधिवासः॥५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मि-
भिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽ
र्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं
येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥७॥

वे दीप्तमती आहुतियाँ 'आओ-आओ, यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्मलोक है।' इस प्रकार प्रिय वाणी से उसकी स्तुति करते हुए यजमान का अर्चन करती हुईं उसे सूर्य की रश्मियों द्वारा स्वर्ग ले जाती हैं॥६॥

ज्ञान रहित होने के कारण जिनमें निकृष्ट कर्म माना गया वे (सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानी ऐसे) अठारह यज्ञ के साधन, अस्थिर एवं नश्वर बतलाये हैं। जो मूढ़ यही मोक्ष का साधन है। ऐसा समझकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे पुनः-पुनः जरामृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं॥७॥

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यत एह्येहीत्याह्वयन्त्यः। सुवर्चसो दीप्तिमत्यः। किंच प्रियामिष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभिवदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतः पन्था ब्रह्मलोकः फलरूपः। एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः। ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात्॥६॥

एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते। प्लवा विनाशिन इत्यर्थः। हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश। एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण। येष्वष्टादशस्ववरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म। अतस्तेषामवर-कर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढतया प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म। कुण्ड-विनाशादिवक्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः। यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयःकरणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किंचित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति॥७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

अविद्या के मध्य में रहने वाले (बहुधा अविवेकी) अपने आप को सम्मानित और पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाए गये अन्धे के समान (जरा रोगादि अनेक अनर्थ जाल से) पीड़ित होते और भटकते रहते हैं॥८॥

अनेक प्रकार से अविद्या में ही रहने वाले वे अज्ञानी पुरुष 'हम सब कृत-कृत्य हो चुके हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि कर्मी लोग कर्मफल सम्बन्धी-राग से बुद्धि के प्रतिहत हो जाने के कारण तत्त्व को नहीं जान पाते हैं। इसीलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं॥९॥

इष्ट (यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, तडागादि स्मार्त कर्म) को ही पुरुषार्थ के सर्वोत्तम साधन मानने वाले वे (पुत्र, पौत्रादि में मोहित हुए) महामूढ़ परुष किसी अन्य वस्तु

किंचाविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा धीमन्तः पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं संभावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः। दर्शन-वर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत्॥८॥

किंचाविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्येव-मभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारणेनाऽऽतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते॥९॥

इष्टापूर्तम्। इष्टं यागादि श्रौतं कर्म। पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयसाधनं न

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥११॥

को श्रेय का साधन नहीं समझते हैं। अतः वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्म फलों का अनुभव कर (अवशिष्ट कर्मानुसार) इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक में प्रवेश करते हैं॥१०॥

(किन्तु इसके विपरीत) जो शान्त और सम्पन्न वानप्रस्थ तथा संन्यासी लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरणरूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त होकर उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते हैं। जिस सत्य लोकादि में वह अमृत और अव्यय स्वरूप हिरण्यगर्भादि पुरुष रहता है॥११॥

वेदयन्ते न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबान्धवादिषु प्रमत्ततया मूढास्ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठ उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वाऽनुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति॥१०॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म। श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः। शान्ता उपरतकरणग्रामाः। विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः। भैक्ष्यचर्यां चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्ये इति संबन्धः। सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनोत्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः। प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्माऽव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी। एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः। ननु—एतं मोक्षमिच्छन्ति केचिन्नेहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामास्ते स्वर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्तीत्यादिश्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च।अपरविद्याप्रकरणे हि प्रवृत्ते न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति विरजस्त्वं त्वापेक्षिकं समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम्। एतावदेव यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम्। तथा च मनुनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता—

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" (मनु० १२/५०) इति॥११॥

बीमार, बुढा, मुरदा को देखकर गौतम बुद्ध को चेतना आयी.
तुलसी दास को पत्नी धिक्कारने से चेतना आयी.
आज भी प्रतिमा धिक्कारती फिर भी चेतना नहीं आती.

परवैराग्य से युक्त के लिये सन्यास और गुरु उपसदन का विधान।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥१२॥

अध्ययन श्रुतार्थ संपन्नं.

कर्म से प्राप्त हुए संपूर्ण लोकों की विवेक द्वारा परीक्षा कर मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे, क्योंकि संसार में अनित्य साधन कर्मोपासना से नित्य पदार्थ मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः उस नित्य वस्तु ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथ में समिधाओं का भार लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जावे॥१२॥

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसाराद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकार-प्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं स्वाभाविक्यविद्याकामकर्मदोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदोषवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूता ये च विहिताकरणप्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नरकतिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान्संसारगतिभूतानव्यक्तादिस्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृतलक्षणान्बीजाङ्कुरवदितरेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसंकुलान्कदलीगर्भवदसारान्मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान्प्रतिक्षणप्रध्वंसान्पृष्ठतः कृत्वाऽविद्याकामदोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्माधर्मनिर्वर्तितानित्येतद्ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मणग्रहणम्। परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यादित्युच्यते—निर्वेदं निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे,वैराग्यमायात्कुर्यादित्येतत्। स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते। इह संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः। सर्वे एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः। न नित्यं किंचिदस्तीत्यभिप्रायः। सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम्। यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं वा नातःपरं कर्मणो विशेषोऽस्ति, अहं च नित्येनामृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी, न तद्विपरीतेन। अतः किं कृतेन कर्मणाऽऽयासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाऽऽचार्यं शमदमदयादिसंपन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वतन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम्। समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः श्रोत्रियमध्ययनश्रुतार्थसंपन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि

श्रोत्रियं छन्दोऽधीते (छा॰ उ॰) (5-2-84)

तस्मै विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥१३॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः॥२॥ इति प्रथममुण्डकं समाप्तम्॥१॥

वह ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक् प्रकार से प्रशान्त चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को उस परविद्या का पूर्ण रूप से उपदेश करे। जिससे कि उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, (न्यायानुसार उक्त रीति से उपदेश कर सच्छिष्य को अविद्या समुद्र से तार देना आचार्य का कर्तव्य होता है)॥१३॥

केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत्। न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता संभवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात्। स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम्॥१२॥

तस्मै स विद्वान्गुरुर्ब्रह्मविदुपसन्नायोपगताय। सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत्। प्रशान्तचित्तायोपरतदर्पादिदोषाय। शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत्। येन विज्ञानेन यया विद्यया पराऽक्षरमद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात्पुरिशयनाच्च सत्यं, तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षततत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत्प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः। आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः॥२॥
इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डकं समाप्तम्॥१॥

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः
प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

वह यह (परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म) परविद्या का विषय यथार्थ है। जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं। हे प्रिय दर्शन! उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक देहादि रूप पदार्थ प्रकट होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं॥१॥

(वह अक्षर ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकार रहित, पुरुष,

---

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम्। स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात्संभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम्। यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्यायाःविषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं सत्यं तदापेक्षिकम्। इदं तु परविद्याविषयं परमार्थतःसल्लक्षणत्वात्। तदेतत्सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम्। अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत्। अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यमक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तात्सुष्ठु दीप्तादिद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव, तथोक्तलक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा जीवा आकाशादिव घटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति। एवं नानानामरूपकृतदेहोपाधिप्रभवमनुप्रजायन्ते, यत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधिविलयमनुलीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः। यथाऽऽकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव, तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम्॥१॥

नामरूपबीजभूताद्व्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह। दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात्। दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा। हि यस्मादमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा। दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति। अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात्। यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि। यथा नभःसुषिरभेदानां घटादिसर्व-

माया - प्रकृति - जो समझ में न आवे : कथा : कृष्ण अर्जुन को कहा - स्नान कर के आव - कन्या बना अर्जुन - राज कुमार से विवाह - बहुत बच्चे - सनीव के तत्परता - Lord asked How much time you will take for bathing - पुन: स्नान - बना अर्जुन .

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

(1) ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप (2) ब्रह्म सबका कारण है। अव्याकृत करण से पर प्रकृति.

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३॥

बाहर-भीतर-सर्वत्र-वर्तमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परशिुद्ध एवं (माया कार्य की अपेक्षा) श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है॥२॥

इसी अक्षर ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सभी इन्द्रियाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है॥३॥

भावविकाराणां जनिमूलत्वात्तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति। सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः। यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्यावशाद्देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाऽऽकाशं, तथाऽपि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः। तथाऽमना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयममना अप्राणो ह्यमनाश्चेति। प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः। तथा च श्रुत्यन्तरे ध्यायतीव लेलायतीवेति। यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयस्तस्माच्छुभ्रः शुद्धः। अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात्सर्वकार्यकारणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यस्तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः। यस्मिंस्तदाकाशाख्यमक्षरं सव्यवहारविषयमोतं प्रोतं च। कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते। यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुषः इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति। अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः। यथाऽनुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः ॥२॥

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते। यस्मादेतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात्। न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम्। एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते। तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः। यथा च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः। यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।

अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, समस्त जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है। वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है॥४॥

उस ब्रह्म से (प्रजापति के अवस्था विशेष रूप से) अग्नि उत्पन्न हुई, जिसका समिधा सूर्य है, (क्योंकि सूर्यलोक से ही द्युलोक रूप अग्नि प्रदीप्त होती है।) पुनः सोम से मेघ और

तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि खमाकाशं वायुर्बाह्य आवहादिभेदः। ज्योतिरग्निः। आप उदकम्। पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी। एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते। संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रववृते संक्षेपविस्तरोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति॥३॥

योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह। तं च विशिनष्टि। अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" (छा० ५/४/१) इति श्रुतेः। मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति। चन्द्रसूर्यौ यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः। अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा, दिशः श्रोत्रे यस्य। वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य। वायुः प्राणो यस्य हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत्। सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात्। जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात्। यस्य च पद्भ्यां जाता पृथिवी। एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकारणात्मा॥४॥

पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते। तस्मात्परस्मात्पुरुषात्प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः स विशिष्यते। समिधो यस्य सूर्यः

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥५॥

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाꣳसि।

उससे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (उन औषधियों से उत्पन्न हुए) वीर्य को पुरुष योषित रूप अग्नि में सींचता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि रूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुष से उत्पन्न हुई है॥५॥

उस पुरुष से ही (नियत पाद अक्षर वाले) ऋचाएँ (पाञ्चभक्तिक आदि गान विशिष्ट रूप) साम मन्त्र, (अनियत पाद अक्षर वाले) यजुर्मन्त्र, मौञ्जी बन्धनादि दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दक्षिणा, सम्मवत्सर (सम्वत्सर रूप कर्माङ्गकाल) यज्ञकर्ता यजमान, लोक, जिन लोकों में चद्रमा जहाँ तक पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे सभी उत्पन्न होते हैं॥६॥

उस पुरुष से ही (कर्म के अङ्गभूत) बहुत से वसु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं तथा साध्यगण कर्माधिकारी मनुष्य, पशु-पक्षी, श्वास, उच्छ्वास, व्रीहि, यवादि हविष्यान्न, तप (सम्पूर्ण

समिध इव समिधः। सूर्येण हि द्युलोकः समिध्यते। ततो हि द्युलोकान्निष्पन्नात्सोमात्पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः संभवति। तस्माच्च पर्जन्यादोषधयः पृथिव्यां संभवन्ति। औषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य उपादानभूताभ्यः पुमानग्नौ रेतः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति। एवं क्रमेण बह्वीर्बह्व्यः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्संप्रसूताः समुत्पन्नाः ॥५॥

किंच कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह। कथं? तस्मात्पुरुषादृचो नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः। सामपाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च स्तोभादिगीतविशिष्टम्। यजूंष्यनियताक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः। दीक्षामौञ्ज्यादिलक्षणाः कर्तृनियमविशेषाः। यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः। क्रतवः सयूपाः। दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः। संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गः। यजमानश्च कर्ता। लोकास्तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृ-फलभूताः ॥६॥

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन संप्रसूताः सम्यक्प्रसूताः।

प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

पुरुषार्थ के साधनों का एक मात्र कारण), आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा, हितमित भाषण, अष्ट मैथुनों का त्याग रूप ब्रह्मचर्य और विधि, (ये सभी उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं)॥७॥

उस पुरुष से ही (दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक मुख— ये मस्तकस्थ) सात प्राण उत्पन्न होते हैं। उसी से (अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करने वाली) उनकी सात दीप्तियाँ, सात विषय रूप समिधा, सात विषय विज्ञान रूप होम और जिन गोलकों में ये प्राण संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। इस प्रकार प्रतिदेह में स्थापित ये सात-सात पदार्थ (उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा आत्मयाजी पुरुष को जानना चाहिये)॥८॥

साध्या देवविशेषाः। मनुष्याः कर्माधिकृताः। पशवो ग्राम्यारण्याः। वयांसि पक्षिणः। जीवनं च मनुष्यादीनाम्। प्राणापानौ व्रीहियवौ हविरर्थौ। तपश्च कर्माङ्गं पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम्। श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम्। ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः। विधिश्चेतिकर्तव्यता॥७॥

किंच सप्त शीर्षण्या प्राणास्तस्मादेव पुरुषात्प्रभवन्ति। तेषां च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वविषयावद्योतनानि। तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः। विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः। सप्त होमास्तद्विषयविज्ञानानि "यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति" इति श्रुत्यन्तरात्। किंच सप्तेमे लोका इन्द्रियस्थानानि येषु चरन्ति संचरन्ति प्राणाः। प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम्। गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले शेरत इति गुहाशयाः। निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम्। यानि चाऽऽत्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः॥८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥९॥
पुरुष एवेदं विश्वं, कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और हिमालयादि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गंगा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ इसी से प्रवाहित होती हैं। इसी से व्रीहि, यवादि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि षड्विध रस उत्पन्न हो रहे हैं। जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है॥९॥

यह सारा जगत् अग्निहोत्रादि रूप कर्म और ज्ञानरूप तप पुरुष स्वरूप ही है। यह सब परामृत स्वरूप ब्रह्म ही है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है। हे प्रियदर्शन! वह इस विज्ञान के द्वारा इस लोक में जीते जी अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर डालता है॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे क्षाराद्याः। गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे। स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपाः। अस्मादेव पुरुषात्सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः। रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम्। तद्ध्यन्तराले शरीरस्याऽऽत्मनश्चाऽऽत्मवद्वर्तते इत्यन्तरात्मा॥९॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं संप्रसूतम्। अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं, पुरुष इत्येव सत्यम्। अतः पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम्। न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किंचिदस्ति। अतो यदुक्तं तदेतदभिहितं कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति। किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते। कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। तपो ज्ञानं तत्कृतं फलमन्यदेतावद्धीदं सर्वम्। तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यं तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतमहमेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रथिं ग्रन्थिमिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन्हे सोम्य प्रियदर्शन॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

॥ १- आह्निकम्॥

अथ द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैत-
त्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ
सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥
यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।

यह प्रकाशमान् ब्रह्म सबके हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। वह श्रवणादि द्वारा बुद्धि रूपी गुफा में उपलब्ध होने के कारण गुहाचर नाम वाला और सबसे बड़े होने के कारण महत् पद है। इसी में चलने-फिरने वाले पक्षी आदि, प्राणन करने वाले मनुष्यादि एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रिया वाले ये सभी जीव समर्पित हैं। तुम इसे सदसत् स्वरूप सबका प्रार्थनीय, प्रजाओं के विज्ञान से परे और सभी श्रेष्ठ पदार्थों में भी श्रेष्ठ जानो॥१॥

सूर्यादि के प्रकाशक होने से जो दीप्तिमान् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी मनुष्यादि स्थित हैं, वही यह सबका आश्रयभूत अक्षर ब्रह्म है। वही

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते। आविः प्रकाशं संनिहितं वागाद्युपाधिभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते। दर्शनश्रवणमननविज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम्। यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं सम्यक्स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम गुहायां चरतीति दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम्। महत्सर्वमहत्त्वात्पदं पद्यते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात्। कथं तन्महत्पदमित्युच्यते। यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवारा एजच्चलत्पक्ष्यादि। प्राणत्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्वादि। निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चानिमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम्। एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम्। सदसतोर्मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात्। वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात्प्रार्थनीयं परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन संबन्धो यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः। यद्वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्ध्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात्॥१॥

किंच यदर्चिमद्दीप्तिमत्तद्दीप्त्याऽऽदित्यादि दीप्यत इति दीप्तिमद्ब्रह्म। किंच यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम्। चशब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः। यस्मिँल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः। ये च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादय-

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तद-मृतं तद्वेद्धव्यं सोम्यविद्धि॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं, शरं ह्युपासानिशितं संधयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

प्राण है, तथा वही वाणी और मन है, वही यह सदा एक रस रहने से सत्य और अमृत है। हे सोम्य! उसे समाहित मन से वेधना चाहिये। अतः तू उनका वेधन कर॥२॥

हे सोम्य! उपनिषद् वेद्य, महान-अस्त्र रूप शरासन को लेकर उस पर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए मनरूपी बाण को चढ़ाओ और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों के तरफ से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का वेधन करो॥३॥

ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया

श्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धास्तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तद्वन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४/४/१८) इति श्रुत्यन्तरात्। यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यम-वितथमतोऽमृतमविनाशि तद्वेद्धव्यं मनसा ताडयितव्यम्। तस्मिन्मनः समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः। यस्मादेवं हे सोम्य विद्ध्यक्षरे चेतः समाधत्स्व॥२॥

कथं वेद्धव्यमित्युच्यते। धनुरिष्वासनं गृहीत्वाऽऽदायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिञ्शरम्। किंविशिष्टमित्याह। उपासानिशितं संतताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत्। संधयीत संधानं कुर्यात्। संधाय चाऽऽयम्याकृष्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्ये एवाऽऽवर्जितं कृत्वेत्यर्थः। न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह संभवति। तद्भावगतेन तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावस्तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि॥३॥

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते। प्रणवः ओंकारो धनुः। यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः। प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन

बाह्यविषयरूपी (विषय) तृष्णा प्रमाद रहित; वैराग्य पूर्वक, वशीकृत इन्द्रियों के द्वार, एकाग्रचित्त से
विषयतृष्णारूपी प्रमाद रहित

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥४॥

Ball falling from the steps

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥५॥

Never believe in politics. I believe only in God the rest is only chaff

है, बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का वेधन करना चाहिये और (वेधन करने के अनन्तर) बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिये॥४॥

हे शिष्यगण! जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन समर्पित है; उसी अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को छोड़ दो, क्योंकि यही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है॥५॥

संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते यथा धनुषाऽऽस्त इषुर्लक्ष्ये। अतः प्रणवो धनुरिव धनुः। शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्ध-प्रत्ययसाक्षितया स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते लक्ष्य इव मनःसमाधित्सुभिरात्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात्। तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णा-प्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम्। ततस्तद्वेध-नादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत्। यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति। तथा देहाद्या-त्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः॥४॥

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम्। यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीथ हे शिष्याः। आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽपरविद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत। तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम्। यतोऽमृतस्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरु-त्तरणहेतुत्वात्तथा च श्रुत्यन्तरम्— "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० ३/८, ६/१५) इति॥५॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते
बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।

जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, वैसे ही शरीर में सर्वत्र व्याप्त सम्पूर्ण नाड़ियाँ जिसमें एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर दर्शन श्रवणादि जन्य अनेक बुद्धिवृत्तियाँ संचार करती हैं। उन बुद्धिवृत्तियों का साक्षीभूत आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञान के उस पार जाने से तुम्हारा कल्याण हो, अर्थात् कल्याण प्राप्ति में किसी प्रकार के विघ्न बाधा न हो॥६॥

जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर

किंच। अरा इव। यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः संप्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्माऽन्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते। पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधाऽनेकधा क्रोधहर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति। तमात्मानमोमित्येवमोंकारालम्बनाः सन्तो यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत। उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता। शिष्याश्च ब्रह्मविद्याविविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः। तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्याचार्यः। स्वस्ति निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकूलाय परस्तात्कस्मादविद्यातमसः। अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः॥६॥

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषयः स कस्मिन्वर्तत इत्याह। यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः। तं पुनर्विशिनष्टि। यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः कोऽसौ महिमा। यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः। सूर्याचन्द्रमसौ यस्य

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥८॥

में स्थित है। उसका अनुभव हो जाने पर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ दुःखादि से रहित आनन्द स्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है॥७॥

(जो कारण रूप से पर और कार्य रूप से अपर है) उस परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की आत्मानात्माध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और इसके (प्रारब्ध से भिन्न) सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं॥८॥

शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति। तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम्। तथा चर्तवोऽयने अब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति। तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते, स एष महिमा भुवि लोके। यस्य स एष सर्वज्ञ एवंमहिमा देवः। दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे। ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते। न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वाऽन्यथा संभवति। स ह्यात्मा तत्रस्थो मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनउपाधित्वात्प्राणशरीरनेता प्राणश्च शरीरं च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति। प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽन्ने भुज्यमानान्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धिं पुण्डरीकच्छिद्रे संनिधाय समवस्थाप्य। हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः स्थितिरन्ने। तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः। आनन्दरूपं सर्वानर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण स्वात्मन्येव भाति सर्वदा॥७॥

अस्य परमात्मज्ञानस्य फलमिदमभिधीयते। भिद्यते हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" (कठ० २/३/१४) इति श्रुत्यन्तरात्। हृदयाश्रयोऽसौ, नाऽऽत्माश्रयः। भिद्यते भेदं विनाशमायाति। छिद्यन्ते सर्वेज्ञेयविषयाः संशया

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति

बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय परमकोश में वह विशुद्ध कलारहित ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और वह यही तत्त्व है, जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं॥९॥

वहाँ आत्मस्वरूप ब्रह्म में सबको प्रकाशित करने वाला यह सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता है और न चन्द्रमा तथा तारे भी वहाँ पर प्रकाशित नहीं होते हैं। वहाँ यह बिजली भी नहीं

लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्त्रोतोवत्प्रवृत्ता विच्छेदमायान्ति। अस्य विच्छिन्नसंशस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि। न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि, प्रवृत्तफलत्वात्तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनाऽवरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यते इत्यर्थः॥८॥

उक्तस्यैवार्थस्य संक्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि हिरण्मये ज्योतिर्मये बुद्धिविज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः। आत्मस्वरूपोपलब्धिस्थानत्वात्परं तत्सर्वाभ्यान्तरत्वात्तस्मिन्विरजमविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्सर्वात्मत्वाच्च, निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवमित्यर्थः। यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्तच्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम्। अग्न्यादीनामपि ज्योतिष्ट्वमन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः। तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यमात्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो विदुर्विजानन्ति ते आत्मविदस्तद्विदुरात्मप्रत्ययानुसारिणः। यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्ते एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः॥९॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते। न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति। तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयतीत्यर्थः। न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः। किं बहुना। यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो

कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥११॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः॥२॥

॥इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम्॥

चमकती, फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है। उसके प्रकाशित होने पर ही ये सभी प्रकाशित होते हैं। विशेष क्या? ये सब कुछ उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं॥१०॥

यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दायें और बायें ओर भी वही है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी ओर फैला हुआ है। अधिक क्या कहें? यह सम्पूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप ही तो है (उसी में रज्जू सर्प की भाँति यह संसार भास रहा है)॥११॥

॥इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः॥

॥इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम्॥

भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति, न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादिजगद्विभाति। यत एव तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासाऽतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्नोति। घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात्॥१०॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म, तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुपसंहरति। ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रेऽब्रह्मेवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम्। किं बहुना ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम्। अब्रह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः। ब्रह्मैवैकंपरमार्थसत्यमिति वेदानुशासनम्॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डकं समाप्तम्॥२॥

अथ तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दुःख रूप फल का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है॥१॥

(ईश्वर के साथ) एक ही शरीर रूप वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने अनीशत्व के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते। यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादिसंसारकारणस्याऽऽत्यन्तिकविनाशः स्यात्। तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः। अथेदानीं तत्सहकारीणि सत्यादिसाधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः। प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्कृतमपि तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठानतयैकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ। सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम्। अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण। स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं न राजवत्॥१॥

तत्रैवं सति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमे-

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

समय अपने से विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है॥२॥

जब तत्त्वद्रष्टा (चेतन) स्वयंप्रकाश यह सुवर्ण के समान प्रकाशमान् सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्ति स्थान उस जगन्निर्माता परमेश्वर पुरुष को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है॥३॥

वाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखीदुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्यन्योऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च संबन्धिबान्धवैः। अतोऽनीशया न कस्यचित्समर्थोऽहं,पुत्रो मम विनष्टो,मृता मे भार्या,किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति संतप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः, स एवं प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवंजवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु शुद्धधर्मसंचितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसंपन्नः समाहितात्मा सञ्जुष्टं सेवितमनेकैर्योगमार्गैः कर्मिभिश्च, यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणमशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्व्यतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा,तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः॥२॥

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम्। यदा यस्मिन्काले पश्यः पश्यतीति विद्वान्साधक इत्यर्थः। पश्यते पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि,कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं,पुरुषं ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वाऽपरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं, द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽद्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते॥३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥४॥

यह जो प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादि नहीं होता है, क्योंकि आत्मज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में ही रति वाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रियाशील पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम माना गया है॥४॥

किंच योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः। विभाति विविधं दीप्यते। एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत्किमतिवाद्यतीत्य सर्वानन्यान्वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी। यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः। सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत्। यस्य त्वपरमन्यद्दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति। अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अतो नातिवदति। किंचाऽऽत्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः। तथाऽऽत्मरतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः। क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा। रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। तथा क्रियावाञ्ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान्। समासपाठे आत्मरतिरेव क्रियाऽस्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते। केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः समुच्चयार्थमिच्छन्ति। तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते। न हि बाह्यक्रियावानात्मरतिश्च भवितुं शक्तः कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति। तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम्। "अन्या वाचो विमुञ्चथ" "संन्यासयोगात्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्मादयमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावान्सोऽभिन्नार्थमर्यादः संन्यासी य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः॥४॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥५॥
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥६॥

यह आत्मा सदा मिथ्या भाषण के त्यागरूप सत्य, मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं, वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर (हृदयाकाश में) रहता है॥५॥

सत्यवादी ही विजय को प्राप्त करता है मिथ्यावादी नहीं, सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तीर्ण होता है, जिस मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह सत्य का उत्कृष्ट निधान विद्यमान है॥६॥

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि। सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः। किंच तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" (महा० शा० २५०/४) इति स्मरणात्। तद्ध्यनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि। एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र। सम्यग्ज्ञानेन यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण। नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः। वक्ष्यति च— "न येषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १/१६) इति। कोऽसावात्मा य एतैः साधनैर्लभ्य इत्युच्यते। अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषा क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः। न कादाचित्कैः सत्यादिभिर्लभ्यते। सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः॥५॥

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं, नानृतवादीत्यर्थः। न हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा संभवति। प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनाऽनृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्। किंच शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम्। कथम्। सत्येन यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥७॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

वह प्रकृत ब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से भी सूक्ष्मतर भासता है और वह अविवेकियों के लिये दूर से भी दूर तथा विवेकियों के लिये अत्यन्त समीप इसी देह में विद्यमान है। वह चेतन प्राणियों में इस देह के भीतर उनके बुद्धिरूप गुफा में छिपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है॥७॥

(यह आत्मा नीरूप होने के कारण) नेत्र से नहीं देखा जाता, (अवाच्य होने के कारण) न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से, न तप या वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म से ही गृहीत होता

विस्तीर्णः सातत्येन प्रवृत्तः। येन पथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्ते ऋषयो दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता ह्याप्तकामा विगततृष्णाः सर्वतो यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य संबन्धि साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण निधीयत इति निधानं वर्तते। तत्र च येन पथाऽऽक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण संबन्धः॥६॥

किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते—बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं सर्वतोव्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्यचिन्त्यरूपम्। सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरं निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारणत्वाद्विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते। किंच दूराद्विप्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म। इह देहेऽन्तिके समीपे च विदुषामात्मत्वात् सर्वान्तरत्वाच्चाऽऽकाशस्याप्यन्तरश्रुतेः। इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम्। क्व? गुहायां बुद्धिलक्षणायाम्। तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः। तथाऽप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते विद्वद्भिः॥७॥

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते। यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचाऽनभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः। तपसः सर्वप्राप्तिसाधनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते। तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥९॥

है। किन्तु जब बुद्धि की स्वच्छता से पुरुष विशुद्ध अन्तःकरण वाला होता है तभी वह ध्यान करता हुआ उस निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है॥८॥

यह सूक्ष्म आत्मा (इस शरीर के भीतर ही) चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राणापानादि भेद से पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ट है। इन्द्रियों के सहित प्राण से प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं। (क्योंकि लोक में प्रजा के सभी अन्तःकरण चेतनयुक्त प्रसिद्ध हैं) जिस चित्त के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकाशित होने लग जाता है॥९॥

किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह-ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितमप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवाऽऽदर्शम्। विलुलितमिव सलिलम्। तद्यदेन्द्रिय-विषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तम-वतिष्ठते, तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात्। तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयव-भेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवानुपसंहतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमान-श्चिन्तयन्॥८॥

यमात्मानमेवं पश्यत्येषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः। क्वासौ? यस्मिञ्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्त-स्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः। कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं येन, क्षीरमिव स्नेहेन, काष्ठमिवाग्निना। सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके। यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमल-वियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण स्वेनाऽऽत्मना विभवत्यात्मानं प्रकाशय-तीत्यर्थः॥९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

वह विशुद्ध अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी अपने या दूसरे के लिये मन से जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है, वह उस-उस पित्रादि लोक को ही और उन्हीं भोगों को प्राप्त करता है। अतः ऐश्वर्यकाम पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे॥१०॥

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह। यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्यमन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान्। तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्पूजयेत्पाद-प्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥१॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥२॥

वह आत्मज्ञानी उस परब्रह्म को जानता है जो सम्पूर्ण आधिदैविकादि जगत् का आश्रय है और शुद्ध रूप से प्रकाशित हो रहा है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे धीर पुरुष शरीर के कारण प्रसिद्ध इस शुक्र का अतिक्रमण कर जाते हैं। अर्थात् उन्हें फिर शरीर धारण करने के लिये योनि में जाना नहीं पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं॥१॥

जो पुरुष (दृष्टादृष्ट) विषयों के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ जन्म लेता है। किन्तु (परमार्थतत्त्व के विज्ञान से) पूर्णकाम, कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इस लोक में ही लीन हो जाती हैं॥२॥

ततः पूजार्ह एवासौ यस्मात्स वेद जानातीत्येतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम्। तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णावर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते परमिव सेवन्ते, ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्रतिं करोति" इतिश्रुतेः। अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः॥१॥

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति। कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान्कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चिन्तयानः प्रार्थयते, स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र। यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति, तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते। यस्तु परमार्थतत्त्वविज्ञानात्पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परि समन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनोऽविद्यालक्षणादपररूपादपनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मनस्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः। कामास्तज्जन्महेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः॥२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥३॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥४॥

प्रकृति परम पुरुषार्थ के साधनभूत यह आत्मा वेद-शास्त्र के पुष्कल प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ग्रन्थधारण शक्तिरूप मेधा से तथा अधिक शास्त्र श्रवण से ही मिल सकता है, किन्तु यह विद्वान् जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, उससे ही यह आत्मा लभ्य है। यह आत्मा उसके समक्ष अपनी अविद्या से आच्छन्न अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है॥३॥

यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न पुत्रादि में आसक्तिरूप प्रमाद से ही लक्ष्य है। अथवा न संन्यास रहित तपस्या से ही यह प्राप्तव्य है। किन्तु जो विद्वान् इन उपायों से उस प्राप्ति के योग्य आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है निश्चय उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है॥४॥

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभस्तल्लाभाय प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते। योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः। तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते। यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण। नित्यलब्धस्वभावत्वात्। कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते। तस्यैष आत्माऽविद्यासंछन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः। तस्मादन्यत्यागेनाऽऽत्मलाभप्रार्थनैवाऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः॥३॥

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्याससहितानि। यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनाऽऽत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात्। तथा तपसो वाऽप्यलिङ्गाल्लिङ्गरहितात्। तपोऽत्र ज्ञानम्। लिङ्गं संन्यासः संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः। एतैरुपायैर्बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम॥४॥

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति॥५॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥६॥

इस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानकर आत्मदर्शी ऋषिगण ज्ञान से तृप्त, कृतकृत्य, वीतराग और उपरत इन्द्रिय हो जाते हैं। वे धीर परुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सर्वत्र प्राप्त कर (प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु काल में समाहितचित्त होकर उपाधि से अपरिछिन्न) सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं (जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है)॥५॥

वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंने ज्ञातव्य परमात्मा का भली प्रकार से निश्चय कर लिया है, वे (ब्रह्मनिष्ठा स्वरूप) संन्यास योग से युक्त विशुद्धसत्त्व पुरुष ब्रह्मलोक में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं और फिर वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं॥६॥

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते–संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन। कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तः। वीतरागा विगतरागादिदोषाः। प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः। त एवंभूताः सर्वगं सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन। किं तर्हि तद्ब्रह्मैवाद्वय-मात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति। एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति॥५॥

किंच वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्याग-लक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु। संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते वा। अतो बहुवचनं

आकाश का चैतन्य विवर्त उपादान कारण है।
" " परिणामी उपादान कारण माया है।

विदेह मोक्ष का स्वरूप

स्व स्व कारणं

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥७॥ इन्द्रियाँ

(देह के आरम्भक प्राणादि) पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठता सभी देवगण अपने प्रतिदेवता आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचिदादि कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सभी अविनाशी परमात्म देव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य बिम्ब को प्राप्त हो गये हों)॥७॥

ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्माऽऽत्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीप-निर्वाणवद्घटाकाशवच्च निर्वृत्तिमुपयान्ति। परिमुच्यन्ति परि समन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

"शकुनीनामिवाऽऽकाशे जले वारिचरस्य च।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः"॥ (महा० शा० २/३९/२४)

"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यो देशपरिच्छिन्ना हि गतिः संसारविषयैव। परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात्। ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम्। यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्। न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति। अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता। अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति ब्रह्मविदो न तु कार्यभूतम्॥६॥

किंच मोक्षकाले या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः। प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम्। पञ्चदश पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रति देवतास्वा-दित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः। यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि संचित प्रारब्ध प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चाऽऽत्माऽविद्याकृतबुद्ध्याद्युपाधिमात्म-त्वेन मत्वा जलादिषु सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु कर्मणां तत्फलार्थत्वात्सह

प्रारब्ध कर्म का भोग से ही नाश होता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं, तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥९॥

जैसे गंगा आदि नदियाँ निरन्तर बहती हुई समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप को त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है॥८॥

लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह इष्ट वियोगजनित संताप को जीवित अवस्था में ही पारकर जाता है। धर्माधर्म रूप पाप को भी पारकर लेता है, एवं आत्मा और अनात्मा के अध्यास रूपी हृदय ग्रंथियों से छूटकर अमर हो जाता है॥९॥

तेनैव विज्ञानमयेनाऽऽत्मना। अतो विज्ञानमयो विज्ञानप्रायः। ते एते कर्माणि विज्ञानमयश्चाऽऽत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकी भवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाऽऽकाशे घटाद्याकाशाः॥७॥

किंच यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे प्राप्यास्तमदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं नामरूपे विहाय हित्वा तथाऽविद्याकृतनामरूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणमुपैत्युपगच्छति॥८॥

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा, अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन वा देवादिना च विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव। न। विद्ययैव सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात्। अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो, नान्यः प्रतिबन्धः। नित्यत्वादात्मभूतत्वाच्च। तस्मात्स यः कश्चिद्ध वै लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति। देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्तिं प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्। आत्मा ह्येषां स भवति। तस्माद्ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैव

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥१०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

यही बात आगे की ऋचा में कही गई है, जो क्रियावान् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वयं श्रद्धा से युक्त हो एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने (अथर्ववेदियों का प्रसिद्ध शिर पर अग्नि धारण करना रूप) शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये दूसरे से नहीं॥१०॥

उस इस अक्षर पुरुष सत्य को अंगिरा नामक ऋषि ने पूर्वकाल में (विधिपूर्वक अपने समीप आये हुए शौनक जी से) कहा था। जिसने शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया

भवति। किंच नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्कुले भवति। किंच तरति शोकमनेकेष्टवैकल्यनिमित्तं मानसं संतापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति। तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं गुहाग्रन्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादि॥९॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासंप्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते। तदेतद्विद्यासंप्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम्। क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः। श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्म बुभुत्सवः स्वयमेकर्षिंनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्धधानाः सन्तो ये, तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयाच्छिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम्। यथाऽऽथर्वणानां वेदव्रतं प्रसिद्धम्। यैस्तु यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च॥१०॥

तदेतदक्षरं पुरुषं सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवते उवाच। तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥
ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः३ ॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सकता है। परमर्षियों को नमस्कार है, परमर्षियों को नमस्कार है, द्विरुक्ति आदरार्थ है ॥११॥

इस प्रकार अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि जी कृत हिन्दीमिताक्षराव्याख्या समाप्त हुई।

॥श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥

नैतद्ग्रन्थरूपमचीर्णव्रतोऽचरितव्रतोऽप्यधीते न पठति। चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृता भवतीति। समाप्ता ब्रह्मविद्या सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः। परमं ब्रह्म साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयोऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः। द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥११॥

इति तृतीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥
॥ २-आह्निकम् ॥

जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्य



सृष्टि के आरम्भ से भारतवर्ष में अवतारों की एक बहुत बड़ी शृंखला रही है। निर्गुण निराकार परमात्मा सन्तों के परित्राण, दुष्टों के उद्धार तथा धर्म संस्थापना के लिए समय-समय पर इस धरा पर अवतरित होते रहते हैं। भगवान् विष्णु के दशावतार तथा चौबीस अवतार इसी क्रम में आते हैं। इन अवतार क्रमों में जगद्गुरु आदि श्री शंकराचार्य भगवान् सदाशिव के अवतार माने जाते हैं।

जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव वैशाख शु. ५ वि.सं. ८४५ (सन् ७८८ ई.) में केरल प्रदेश (दक्षिण भारत) के कालड़ी ग्राम में पिता श्री शिवगुरु एवं माता श्री आर्याम्बा के यहाँ हुआ। बाल्यकाल से ही आपकी अलौकिक प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। पाँचवें वर्ष में विधिवत् उपनयन संस्कार के अनन्तर आप गुरु के पास अध्ययन करने गये। आठ वर्ष की स्वल्पायु में आपने संन्यास ग्रहण हेतु गृह त्याग किया, जो विश्व के इतिहास में एक अलौकिक घटना है। योगदर्शन के रचयिता पतंजलि महर्षि के अवतार श्री गोविन्दाचार्य भगवत्पाद को गुरु वरण कर उनको खोजते हुए नर्मदा तीर स्थित एक गुफा में श्री शंकराचार्य ने उनके दर्शन प्राप्त किए और कुछ वर्षों तक उनकी सेवा में रहकर साधना एवं स्वाध्याय सम्पन्न किया। आचार्य शंकर की काशी यात्रा में भगवान् शंकर ने चाण्डाल रूप धारण कर आप की परीक्षा ली और सब प्रकार से योग्य सिद्धकर विश्वनाथ रूप में आपको दर्शन दिये।

उत्तरभारत में श्री बद्रीनाथ स्थित व्यासगुफा में आचार्य शंकर ने चार वर्ष तक निवास किया और उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थों पर अपना प्रामाणिक भाष्य लिखा। उस समय आपकी आयु सोलह वर्ष हो चुकी थी जो विधाता एवं महर्षि अगस्त्यादि प्रदत्त आयु की सीमी थी। किन्तु महर्षि वेदव्यास जी के उत्तरकाशी में दर्शन आप को हुए और आपके द्वारा लिखे भाष्यों से प्रसन्न होकर १६ वर्ष और आयु का आशीर्वाद भगवान् वेदव्यास जी ने आपको दिया।

आचार्य शंकर ने अद्वैत मत के प्रचार हेतु अपनी दिग्विजयी भारत यात्रा की। धर्म प्रचार के उद्देश्य से एवं भारत की अखण्डता बनाये रखने हेतु चार दिशाओं में चार मठों की आपने स्थापना की। केदारनाथ की अपनी अन्तिम यात्रा में वहीं अन्तर्धान हो गए। अतः केवल ३२ वर्ष की आयु में ही आचार्य शंकर ने वैदिक सनातन धर्म की परम्पराओं में अनेक क्रांतिकारी कदम उठाकर भारत भूमि में धर्म की पताका को पुनः ऊँचा किया। आप द्वारा रचे दो सौ से भी अधिक ग्रन्थों की देन से मानवमात्र आदि शंकराचार्य जी के ऋणी हैं।

देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव वि. सं. २०५५-५६ में श्रीदशमकैलासपीठाधीश्वर जी महाराज ने प्रतिदिन एक घण्टा शांकर साहित्य पारायण का जो नियम लिया है, यह आचार्य शंकर के प्रति निष्ठा का अनुकरणीय आदर्श है। हम सब भी इसका अनुसरण कर आचार्य शंकर द्वारा रचे ग्रन्थों का पारायण कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनायें। यही आचार्य शंकर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विधानन्द गिरि जी महाराज



आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान् कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक है। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आपके पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आपका अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाया और आपके सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ़ शु. ७ वि. सं. २०५५ से सवा वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम में आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में "देवानुग्रह त्रिदशक" महोत्सव मनाया जा रहा है।